प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५८
मूल्य
एक रुपया पचहत्तर नये पैसे
(पौने दो रुपये)

मुद्रक
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली

'युगधर्म' के प्रवर्तक
राष्ट्रपिता
बापू के चरणों में

—हरिभाऊ

प्रकाशकीय

जैसाकि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक में बताया गया है कि आज के युग में हमारा क्या धर्म—कर्त्तव्य—है। दूसरे शब्दो में, इस पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि गांधीजी (सर्वोदय) की विचार-धारा के अनुसार हमारे वर्तमान समाज का किस प्रकार सर्वांगीण विकास किया जा सकता है और उसमे देश के नागरिकों को क्या करना चाहिए। पाठकों की सुविधा की दृष्टि से पुस्तक की सामग्री चार भागो मे विभक्त कर दी गई है। १. आह्वान २. आदर्श ३. साधना और ४. समस्या। इन चारों विभागो की सामग्री को मिलाकर अपेक्षित समाज का न केवल स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है, अपितु वह मार्ग भी, जिसपर चलकर समाज के नव-निर्माण का कार्य संपन्न किया जा सकता है।

पुस्तक इसलिए तो महत्वपूर्ण है ही कि वह आज की छोटी-बडी अनेक समस्याओ की ओर पाठकों का ध्यान खीचती है, लेकिन इससे भी अधिक उसकी उपयोगिता यह है कि वह समस्याओ का समाधान बड़े ही सरल एवं सुबोध ढंग से सुझाती है।

हमें विश्वास है कि इस किताब से पाठको को बहुत-सी विचार-प्रेरक सामग्री मिलेगी और वे इससे लाभान्वित होगे।

—मंत्री

दो शब्द

इस संग्रह का नाम 'युग-धर्म' इसलिए रखा गया है कि विविध विषयों पर होते हुए भी, शाश्वत धर्म का विवेचन करते हुए भी, इन लेखों में हमारे वर्तमान कर्तव्य अर्थात् युग-धर्म पर ही जोर दिया गया है। शाश्वत या सनातन धर्म मनुष्य के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही युग-धर्म भी, जोकि उसीका एक महत्वपूर्ण अंग है। शाश्वत धर्म के सिद्धांतों पर जब हम अमल करते हैं या करने का प्रयत्न करते हैं तब युग-धर्म का उदय होता है। शाश्वत धर्म जब देश, काल, पात्र की मर्यादा में बंधता है तब वह युग-धर्म हो जाता है। मेरी मान्यता के अनुसार आज का युग-धर्म 'सर्वोदय' है, जिसमें मानवता का चरम विकास अभिलषित है। अतः मेरी सबसे अधिक दिलचस्पी मानवता के विकास में है, उसीके सिद्धान्त हमारे लिए आधारभूत हो सकते हैं। परन्तु अभी तो मानवता के विकास को हमारी छिन्न-भिन्नता और हिंसा-वृत्तियों के हिमालय ने रोक रखा है। जबतक हम इन बेड़ी को तोड़कर आगे नहीं बढ़ने लगते तबतक 'सर्वोदय' तो दूर भारतीय राष्ट्र का पुनर्निर्माण भी महान् कष्टसाध्य है। अतएव प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि पहले वह इस हिमालय को चूर-चूर कर दे। परंतु इसकी अर्थात् राष्ट्र-निर्माण की विधि ऐसी हो जिससे 'सर्वोदय' की प्राप्ति के आने में सुगमता हो, और हमें अपनी दिशा में परिवर्तन न करना पड़े। इस विधि की खोज में रचनात्मक और निर्माणात्मक भूदान-ग्रामदान आदि कार्यक्रमों की उत्पत्ति हुई है। रचनात्मक कार्यक्रम क्या है? राष्ट्र-रचना के दुर्बल अंगों को सबल बनाना, [illegible] अंगों को निखारना, सोई शक्तियों को जगाना, दूसरे शब्दों में भारतीय मानवता के सम्पूर्ण अंगों का समान विकास करना। 'युग-धर्म' में आप देखेंगे कि इन सारे विषयों में पाठकों को मेरे अनेक लेखों में विचार और उपाय-सामग्री दी गई है।

स्वराज्य तो अब आ गया, उसे टिकाय रखना और भावी राष्ट्र-निर्माण की नींव डालना ही भारत का वर्तमान युग-धर्म है। पाठकों को 'युग-धर्म' में इसीकी झलक दिखाई देगी। यदि इन दोनों बातो की प्रेरणा पाठको को 'युग-धर्म' से मिली तो मैं इस संग्रह को सार्थक समझूगा।

कोई ३० साल पहले 'मंडल' की ओर से 'युग-धर्म' नाम से एक संग्रह निकला था, परंतु निकलते ही तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। लेकिन यह संग्रह बहुत-कुछ नवीन और अप-टू-डेट—ताजा है। इसमे अबतक की प्रमुख समस्याएं आगई है। आशा है, मेरी और रचनाओं की तरह पाठक इसे भी चाव से पढेगे और सर्वोदय की नवीन क्रांति का पथ प्रशस्त करेंगे।

—हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

: ८ :

नवयुग का प्रतीक

बापू के बाद उनके रचनात्मक कार्यों के नेतृत्व का सवाल जब देश-सेवकों के सम्मुख उपस्थित हुआ तो प्रायः सबकी निगाहें विनोबाजी पर ही जाकर रुकीं। मगर किसीको यह पता न था कि इतने से वर्षों के अंदर विनोबाजी ऐसा चमत्कार दिखा देंगे जैसाकि उस युग में अक्सर बापू ने दिखाया। देश के स्वतंत्र होने के बाद बापू के समय में ही और बापू के बाद तो और भी ज्यादा यह धारणा राजनैतिक लोगों में जड़ पकड़ती जाती थी कि जो योग्य व्यक्ति थे वे कांग्रेस के संगठन और शासन में जगह-जगह चस्पा होगये, खप गये, और जो अयोग्य या शक्तिहीन थे वे रचनात्मक कामों का बहाना लेकर चर्खा कात रहे हैं। विधानसभाओं में अथवा कांग्रेस-संगठन में किसी ऊंची पद-प्रतिष्ठा की जगह पा लेना योग्यता और शक्ति का लक्षण माना जाता था और रचनात्मक कार्य में लगे हुए लोग तुच्छ दृष्टि से देखे जाने लगे थे और निकम्मों में उनकी गिनती होने लगी थी। खुद उनमें भी धीरे-धीरे निराशा, असमर्थता, दुविधा व चिन्ता के भाव फैलने लगे थे। यह देश-भर में अक्सर कहा जाता था कि बापू के अनुयायियों में जो शासन में चले गये हैं, उन्होंने अपनेको रोटीभरी मेज पर सुलाया है और जो रचनात्मक कामों में लगे हुए हैं उन्होंने अपने-आपको जिंदा कब्र में गाड़ दिया है। मगर फिर भी सबकी आंखें विनोबाजी की ओर आशा से देख रही थीं। बापू के निधन के बाद तो विनोबा ने अपनी चिर एकान्त-साधना छोड़कर भारत-यात्रा का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया और दो ही वर्ष के बाद तेलंगाना में उन्हें एकाएक एक स्फूर्ति हुई, जिसे ईश्वरी संकेत या आदेश भी कहते हैं, जिसने भूदान-यज्ञ का रूप धारण किया। वह १८ मार्च का दिन था। वह एक नवीन युग के प्रवर्तन का दिन था, भले ही उस समय किसीको इसका भान न हुआ हो। तीन वर्ष बाद सर्वोदयपुरी (गया) में हमने देखा कि सर्वोदय-सम्मेलन में जितने भी कार्य-

कर्ता एकत्र हुए थे उनके चेहरो पर उत्साह, आत्मविश्वास और निश्चय की झलक दिखाई पडती थी । भूदान-यज्ञ का प्रारंभ भले ही भूमि-समस्या को सुलझाने के लिए हुआ, परतु आज वह एक नवीन समाज-रचना (शोपण-हीन, शासनरहित) अर्थात् सर्वोदय-समाज-रचना का मध्य-विंदु या केंद्र वन गया है ।

जव अंग्रेजो से लडाई थी तव हम लोग आपस के सव भेदभाव को भूल कवे-से-कंधा भिड़ाकर वड़े जोश से मस्त और मतवाले होकर तिरगा झंडा हाथ मे लेकर तरह-तरह के नारे और गीत गाते हुए लडाई के मैदान मे आगे वढ़ते जाते थे । स्वतत्रता प्राप्त करने की इतनी जवरदस्त प्रेरणा थी कि कोई भी वड़ी-से-वडी कठिनाई और संकट हमारा मार्ग नही रोक सके । लेकिन हमने देखा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के वाद जव प्रत्यक्ष राज्य-सचालन की जिम्मेदारी हमपर आई, नवसमाज-निर्माण की सत्ता और सुविधा हम को मिली, तो हमारा उत्साह और लगन ठंडे पड गये और पद, सत्ता तथा प्रतिष्ठा के विवादो मे हम अपने-आपको उलझाने और निर्वल वनाने लगे । यह देखकर दिल टूक-टूक होता था । कई वार मेरे मन मे प्रश्न उठा कि क्या नवीन समाज, नवीन राष्ट्र के निर्माण की कल्पना हममे जोश और लगन नही पैदा कर सकती ? क्या हमारी केवल अंग्रेजो से ही शत्रुता थी ? या पद और सत्ता के ही भूखे थे जो हम उन्हे लेकर तृप्त हो गये ? रचनात्मक काम, जो समाज के नवनिर्माण की वुनियाद है, क्यों नही हमको उस तरह प्रेरित करते और मतवाला वनाते जैसा कि स्वतत्रता-प्राप्ति से पूर्व करते थे ? मालूम होता है, वापू के वाद इसके लिए एक नेता की कसर थी, जो विनोवा के रूप में पूर्ण होगई ।

मेरा यह विश्वास दिन प्रतिदिन दृढ होता जाता है कि वापू की विभूति भारत के दो महान पुरुषो मे वट गई या स्पष्ट रूप से सामने आ रही है । एक जवाहरलालजी और दूसरे विनोवाजी । राजनीतिक क्षेत्र मे जवाहर-लालजी और रचनात्मक क्षेत्र में विनोवाजी । जव पहला सत्याग्रही वापू ने विनोवा को चुना तो उनके जीवनादर्श की पूर्ति के लिए आगे चलकर सवमे

बड़ा साधन कौन हो सकता है, उसका चुनाव उन्होंने कर लिया। जब जवाहरलाल कई बार कांग्रेस के सभापति बनाये गये तो अप्रत्यक्ष रूप से बापू ने यह जाहिर किया कि स्वराज्य-संचालन की जिम्मेदारी जवाहरलाल पर आनेवाली है और बाद में तो उन्होंने उन्हें अपना राजनीतिक वारिस घोषित ही कर दिया और इसमें कोई शक नहीं कि दोनों अपने राष्ट्रपिता के योग्य, कुशल तथा आदरणीय वारिस सिद्ध हो रहे हैं। जवाहरलाल ने अपने महान निष्कपट और न्यायपूत व्यक्तित्व की छाप सारे संसार पर डाली, जबकि विनोबा भारत के अंदर नवीन समाज-रचना की बुनियाद डाल रहे हैं। दोनों मिलकर जिन सूत्रों से बापू के उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए हैं, उसका अनुमान पहले इतना नहीं होता था। दोनों का परस्पर स्नेह और आदर दोनों की महानता के साथ ही जय-विजय की जोड़ी की तरह सुंदर लगता है।

: ६ :

भूदान की गंगोत्री

विनोबाजी का चिंतन भूदान से ग्रामदान और भूमि-स्वामित्व-विसर्जन तक पहुंचा है। इसका सम्पत्तिदान समाजीकरण के रूप में परिणत हुआ है, अर्थात् किसानों से वे कहते हैं कि भूमि पर से स्वामित्व छोड़ो और मजदूरों व अन्य नागरिकों से कहते हैं कि तुमको जो कुछ मिला है वह समाज की कृपा से मिला है, अतः उसपर तुम्हारा नहीं, समाज का अधिकार है। इसलिए तुम उसपर से स्वामित्व-अधिकार छोड़ो। जो कुछ है वह समाज को अर्पण करो और फिर समाज तुम्हारी सेवा या श्रम के अनुरूप जो कुछ तुमको दे, उसे ग्रहण करो और उससे संतुष्ट रहो, लेकिन चूंकि तुम्हारे मन की इतनी तैयारी होने में देर लग सकती है, इसलिए तबतक तुम अपनी आमदनी का एक-तिहाई भाग समाज को देते रहो और धीरे-धीरे समाज-समर्पित हो जाने की कोशिश करते रहो। मतलब यह कि उनका

सारा आंदोलन शुद्ध समाजीकरण का आंदोलन है। इस क्रांति के लिए उनकी योजना यह है कि शीघ्र ही कोई ऐसी योजना तैयार की जाय जिसके अनुसार भारत के सब ग्रामवासी किसी एक निश्चित दिन यह निश्चय प्रकट करें कि उन्होंने अपनी निजी जमीन पर से स्वामित्व छोड़ दिया है और गाव की सारी जमीन का फिर से समुचित बंटवारा हो जाय। इसमे वे भारत के सभी नागरिको, सभी राजनीतिक पक्षो, सभी समाजो और सम्प्रदायों का सहयोग चाहते हैं। पिछले दिनो उड़ीसा मे ८०० समूचे ग्राम दान में मिले है। वहा सर्वोदय की दृष्टि से ग्राम-रचना करना चाहते हैं। उसके लिए अण्णासाहब सहस्रबुद्धे, जो सर्व-सेवा-संघ के मंत्री थे, जिम्मेदार बनाये गये हैं और उनके मार्ग-दर्शन मे कोकापुर मे अच्छा प्रयोग चल रहा है।

विनोबाजी स्वयं तंत्र मे बंधे नही है, न बधना चाहते है। वह मानते है कि आजकल तंत्र का अर्थ है बहुमत का शासन, जिसमे अल्पमत पर दबाव पड़ता है और यह हिंसा का चिह्न है। इसलिए यदि तंत्र चलाना ही पडे तो वह ऐसा हो जिसमे सर्वसम्मति से सब काम हो। इस दृष्टि से उनके पास कोई तंत्र माना ही जाय तो वह 'सर्व सेवा संघ' है।

संपत्ति-दान का काम अबतक पूज्य जाजूजी और जयप्रकाश नारायणजी मुख्य रूप से करते रहे। अब जाजूजी के बाद यह जिम्मेदारी जयप्रकाश नारायणजी पर आ गई है। संपत्तिदान के सिलसिले में जयप्रकाशजी ने एक बात बड़े मार्के की कही है और वह यह कि मजदूर भी अपना अधिकार छोड़ें। आज वे मालिको से तो कहते हैं कि अपना अधिकार छोडो, लेकिन वे खुद भी तो एक छोटे मालिक बने हुए है। आज मालिको के स्वामित्व-अधिकार छोड़ने का अर्थ यह होगा कि हजारो की तादाद मे छोटे-छोटे मालिक हो जायंगे अर्थात् एक ही जगह अनेक मालिक हो गये। यह स्वामित्व का वितरण हुआ, विसर्जन नही। अतः मजदूरो को भी स्वामित्व की भावना छोडनी चाहिए। तब मालिको से की गई उनकी माग सच्ची, न्याययुक्त और जोरदार बनेगी। जयप्रकाशजी की इस बात को सहसा काटना मुश्किल है। यदि समाजीकरण ही हमारी सब कठिनइयो

और समस्याओं का हल है तो छोटे और बड़े सभी स्वामियों को अपना अधिकार छोड़ना होगा। "सब संपत्ति समाज की है। यह सृष्टि भगवान की है, इसमें व्यक्ति का अपना कुछ नहीं है।" ऐसे सिद्धांत का खंडन मुश्किल मालूम होता है। इस प्रकार समाज-समर्पित हो जाने से व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व भी खो जायगा, यह डर अवश्य है। इस दृष्टि से मुझे पूज्य बापू का यह समन्वय अच्छा लगता है कि समाज-रचना ऐसी हो, जिसमें व्यक्ति के चरम उत्कर्ष की सुविधा हो और विकसित और समुन्नत व्यक्तित्व समाज के समर्पित हो।

: १० :

शांति की दिशा में

विश्व-शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों को पूना की राष्ट्रीय अकादमी में आयोजित एक भोज में चीन के प्रधान मंत्री श्री चाउ एन लाई द्वारा दिये गये उस भाषण से बड़ी प्रसन्नता होगी, जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"दुनिया में आज दो प्रकार की सेनाएं हैं—एक वे जिनका प्रयोग आक्रमण और साम्राज्य-विस्तार के लिए किया जाता है, और दूसरी वे, जो आत्मरक्षा के लिए हैं। भारत व चीन की सेनाएं आत्मरक्षा के लिए हैं, आक्रमण के लिए नहीं।" इसी सभा में श्री चाऊ ने अपना यह विश्वास दोहराया था कि जो सेनाएं आत्मरक्षा के लिए तैयार रहती हैं, और जो दलित, पीड़ित और शोषित मानवता की ओर से संघर्ष करती हैं, अन्ततोगत्वा उन्हीं की विजय होती है।

जनवादी चीन जैसे एक महान राष्ट्र के प्रधान मंत्री के मुंह से निकले ये उद्गार युद्ध और हिंसा की विभीषिका से त्रस्त विश्व को कहां तक राहत पहुंचायेंगे। इन शब्दों से शांति की [illegible]। भारत के [illegible] से राजनीतिज्ञों की [illegible]

मनोवृत्ति नहीं है। अतः हम उनके उद्‌गारों का स्वागत करते हैं।

श्री चाऊ के इन विचारो का पूरा आदर करते हुए भी एक प्रश्न उठ आता है और वह यह कि क्या दुनिया की शाति के लिए इतना पर्याप्त है? क्या अपनी सेनाओ को रक्षात्मक बनाकर हम संतोष की सास ले सकते है? उत्तर स्पष्ट है, "नही", क्योकि यदि कोई आक्रामक आक्रमण कर देता है, तो हमें बचाव के लिए युद्ध करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे यद्यपि युद्ध हमारी ओर से प्रारभ नही किया जायगा, तथापि वह शाति की निश्चित गारंटी नही है।

श्री चाऊ का आशय शायद यह है कि हमारी सेनाएं शक्ति-संतुलन के लिए है। उनके अस्तित्व से दुश्मन हमेशा दबे हुए रहेगे और यदि वे दबे हुए न भी रहे तो यकायक हमला करने का साहस तो नही ही करेंगे। एक बड़े देश के प्रधान मंत्री के नाते उनके ये विचार सावधानी के सूचक है, किंतु वे शाति का राजमार्ग नही दिखाते, क्योकि विनोबाजी के शब्दो मे सेनाएं रखकर युद्ध मिटाने की बात करना आग से आग बुझाने की बात करना है। हिंसा से हिंसा मिटाने के ऐसे प्रयत्न तो दुनिया मे कई बार पहले भी हो चुके हैं, किंतु बार-बार उन्हे असफल ही होना पडा है।

यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो आजकल आक्रमणात्मक युद्ध और रक्षात्मक युद्ध मे कोई अतर नही रहा है। नाम चाहे आक्रमणात्मक हो, चाहे रक्षात्मक, होता युद्ध ही है और युद्ध के साथ जो विनाश एवं विध्वस जुड़े हुए है, उनके प्रभाव में कोई खास अंतर नही पड़ता।

शाति के उपायों की खोज करते समय हमारा ध्यान राष्ट्रसंघ की ओर बरबस खिच जाता है। राष्ट्रसघ दुनिया के सभी प्रश्नो को बातचीत, समझौते और सलाह-मशविरे से हल करना चाहता है। इसमे कोई सदेह नही कि हिंसा से हिंसा मिटाने जितना बेढंगा प्रयत्न यह नही है। फिर भी इस प्रयत्न मे सफलता के फल जल्दी ही लगते हुए दिखाई नही देते। पहली बात तो यह है कि राष्ट्रसघ मे चीन-जैसे कुछ राष्ट्रो को स्थान ही नहीं दिया गया है। दूसरे, जिन राष्ट्रो की तूती वहा बोलती है, वे एक-दूसरे को भला

समझते ही नहीं हैं। वे बातचीत अवश्य करते हैं, लेकिन एक-दूसरे को धूर्त और ठग समझकर। अत: पारस्परिक विश्वास के अभाव में राष्ट्रसंघ भी उद्देश्य-पूर्ति की दिशा में आगे नहीं बढ़ रहा है।

आज दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो कहते हैं कि स्थायी रूप से शांति की स्थापना करने के लिए दुनिया के भले लोगों को अलग-अलग देशों में जाकर कुछ अच्छे काम करने की जरूरत है। उनका कहना है कि यदि एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों के साथ मित्रता स्थापित करें, स्नेह-संबंध जोड़ें और उनकी सेवा करें तो अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना पैदा करने में बड़ी सहायता मिलेगी। यह विचार बहुत अंश में अच्छा है, लेकिन प्रश्न होता है कि युद्ध हुआ तो ऐसे लोग क्या करेंगे? उनकी सदिच्छाएं कैसे कार्यरूप में परिणत होंगी, इसका स्पष्ट चित्र सामने नहीं है।

हमारी राय में आज आवश्यकता इस बात की है कि युद्ध न करने का निश्चय दृढ़तापूर्वक किया जाय, किंतु निश्चय-मात्र से ही युद्ध बंद नहीं हो जायगा। उसके लिए एक निश्चित योजना, कार्यक्रम और तंत्र खड़ा करना पड़ेगा। उसके आसार कहीं नजर नहीं आते हैं। गांधीजी ने अलबत्ता अहिंसात्मक प्रतिरोध का मार्ग दिखाया है, किंतु युद्ध बंद करने पर उसका खास असर नहीं हो पाया। भारतवर्ष आजाद अवश्य हो गया और उसने पंचशील के द्वारा सारे विश्व में शांति की हवा पैदा कर दी, किंतु इससे आगे वह भी नहीं बढ़ पाया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अहिंसात्मक प्रतिकार का मार्ग बड़ा उपयोगी है। युद्ध की सफलता जहां विरोधी या प्रतिपक्षी को अधिक-से-अधिक कष्ट देने या विनष्ट कर देने की शक्ति में है, वहां अहिंसक प्रतिकार की सफलता स्वयं सबसे अधिक कष्ट, यातना, हानि के सहन करने में है। हिंसात्मक युद्ध का उद्देश्य है प्रतिपक्षी को दबाना, जबकि अहिंसक युद्ध का उद्देश्य है स्वपीड़न एवं स्वसमर्पण के द्वारा विरोधी का हृदय-परिवर्तन। इस कार्य को अधिक संगठित एवं व्यवस्थित रूप से करने के लिए अहिंसक प्रतिकार में विश्वास रखनेवाले लोगों की एक सेना ही बनानी पड़ेगी।

हमारी दृष्टि मे युद्ध से त्राण पाने का वही एकमात्र प्रभावशाली मार्ग होगा। यदि आज के उन्नत कहे जानेवाले राष्ट्र हिंसक शस्त्रास्त्रो एवं सेनाओ के भारी एवं आत्मघाती बोझ से मुक्त होकर शाति-सेना तैयार करने का प्रयत्न करे तो दुनिया का अधिक लाभ होगा। उससे जहां उसका नैतिक बल बढेगा, वहा शस्त्रास्त्रो और सेनाओ पर खर्च होनेवाला अरबो रुपया नव-निर्माण और जन-कल्याण के कार्यो मे लगेगा। फिर अशाति के बहुत-से बीज मूल रूप मे ही नष्ट हो जायगे।

प्रश्न उठ सकता है कि यह बात कहने में जितनी सुदर लगती है, उतनी व्यावहारिक रूप मे नही है। हमारा विनम्र निवेदन है कि युद्ध और हिंसा के रास्ते मे जितना खतरा है, उससे बहुत कम खतरा इसमें है। उसमे भी तो लोगो की जान जाती ही है, फिर इसमे कुछ लोगो को मर जाना पडे तो हमें चिंतित नही होना चाहिए। युद्ध, मृत्यु, घृणा, विद्वेष और वैमनस्य का विषैला धुआं फैलता है, जो वर्षो तक वातावरण को विषाक्त बनाये रखता है। किंतु अहिंसात्मक प्रतिकार की मृत्यु एक ऐसा प्रकाश फैलाती है, जो हृदय की आंख खोल देता है। उस प्रकाश में पक्ष और विपक्ष दोनो ही अपना सही मार्ग पहचानकर उसपर चलने का बल पाते हैं।

मान लीजिये कि किसी अहिंसक देश पर आक्रमण हुआ और हिंसक शक्ति से उसे अधीन कर लिया गया, किंतु वह आधिपत्य की गाडी उस देश के सहयोग और सद्भावना के बिना एक कदम भी आगे नही बढेगी। उसे पग-पग पर कठिनाइयो का सामना करना पडेगा और अंत मे वहा से जाना पडेगा। यह अहिंसक युद्ध की विजय होगी, भले ही देर से हो।

इस प्रयत्न को और व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रत्येक प्रात, जिले और नगर-ग्राम मे शाति-दलो का संगठन उपयोगी होगा। ये शाति-दल स्थानीय प्रश्नो को अहिंसक तरीको से हल करने में बडे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। जब भी कभी दो दलो मे किसी प्रश्न को लेकर कोई झगडा खडा हो जाय तो ये शाति-दल वहा पहुचकर उन्हे समझाने-बुझाने और समझौता कराने का प्रयत्न करें। यदि सम्बंधित दल इसे स्वीकार न करे

और लड़ाई-झगड़े के लिए तैयार हो ही जाय तो बीच-बचाव करें, उन्हें लड़ने न दें और अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी लड़ाई को रोक दें। इस प्रकार देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित करने में स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का बलिदान हमारे लिए स्फूर्तिदायक हो सकता है। परन्तु वह एक आकस्मिक बलिदान था। हमें सयोजित, संगठित और व्यवस्थित बलिदान करना है। इसलिए एक सेना खड़ी करनी होगी। दूसरा उदाहरण है मुरारजी देसाई का, जो आन्तरिक शान्ति में सहायक सिद्ध हुआ।

इस रास्ते से जनता का नैतिक स्तर ऊंचा होगा, सत्य और अहिंसा में उसका विश्वास दृढ़ होगा और अन्ततोगत्वा वह शान्ति की मजबूत बुनियाद का काम देगा। जन-जागरण और जन-कल्याण की दिशा में भी यह एक बहुत बड़ा कदम होगा। क्या शांति और सद्भावना में विश्वास रखनेवाले लोग इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करेंगे?

: ११ :

योजना चाहिए

युद्ध या शान्ति यह प्रश्न अब राज-नेताओं या युद्ध-नेताओं के भी विवाद या बौद्धिक मंथन की समस्या नहीं रह गया है। सब मानने लगे हैं कि शांति सब काल में अच्छी है, और समाज, शासन तथा संसार की सब मानवी समस्याएं शान्ति के द्वारा हल होनी चाहिए, इस तरह विचार दौड़ने लगे हैं। उसमें कठिनाई या खतरा यह है कि राष्ट्र-नेता परस्पर डर रहे हैं कि यदि हम ने साहस करके कदम आगे बढ़ा दिया तो कहीं दूसरा उसे शस्त्रबल से दबा न दे। इस डर से शस्त्रास्त्र या सेनाबल कम करने में हिचकते हैं। पिछले एक साल से रूसी नेताओं के सुझावों और व्यवहार से मालूम होता है कि वे सच्चे दिल से शान्तिवादी ही नहीं, शान्ति-प्रिय भी हो रहे हैं।[1] इसके दो उदा-

[1] उन्होंने हाल ही में आणविक अस्त्रों के परीक्षण की एकपक्षीय समाप्ति की घोषणा करके इसकी पुष्टि की है।

हरण ध्यान देने योग्य है—एक तो रूस के प्रधान मंत्री का यह सुझाव कि विश्व के बड़े राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया जाय, उसमें नि:शस्त्रीकरण का एक कार्यक्रम रखा जाय। दूसरा श्री ख्रुश्चेव का पोलैंड-संबंधी भाषण, जिसमे उन्होंने घोषणा की है कि यदि पूंजीवादी राष्ट्र यूरोप के दूसरे देशो मे अपनी-अपनी सेनाए हटा लें तो रूस अपनी सेनाएं हटाने के लिए तैयार है। हंगरी में हाल ही मे रूस की सेनाओ ने जो भाग लिया है, उसपर आपत्ति की गई है और उसीसे उत्पन्न प्रश्नो का उत्तर देने की चेष्टा ख्रुश्चेव ने की है। इधर अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहोवर ने भी मिस्र पर किये गये ब्रिटेन और फ्रास द्वारा सम्मिलित हमले के सिलसिले में जो रुख धारण किया उससे युद्ध की आग को न भडकने देने मे ही मदद मिली है। इस समय रूस और अमरीका दोनो के नेताओ के हाथ मे ही सारी बाजी है। इस शाति-साधना में भारत का अपना विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है, किंतु वह उस दिशा मे वातावरण बनाने से अधिक प्रत्यक्ष कुछ करने की स्थिति में नही है। क्या अच्छा हो कि पं० नेहरू आइजनहोवर तथा ख्रुश्चेव को नजदीक लाने में सहायक हो जाय। शाति का यह महान् कार्य इन दोनो राष्ट्रो के महान नेताओं के बीच परस्पर विश्वास कायम होने से ही सिद्ध हो सकता है। दोनो पक्ष के नेता महान सैनिक नेता भी हैं। जिस तरह भय के साधनों का इस्तेमाल ये सफलता के साथ कर सकते हैं उसी तरह सहयोग और शाति के साधनों को अपनाने में भी इन्हे कठिनाई न होनी चाहिए। शांति के महान् अग्रनेता बुद्ध, महावीर, अशोक सैनिक जाति के ही थे, जिन्होने हिंसा-बल की तुच्छता को स्वीकार किया और अहिंसा-बल की श्रेष्ठता का प्रचार किया। इस समय भी इतिहास की यह पुनरावृत्ति हो सकती है।

परंतु मिस्र और हगरी मे जो लड़ाई की स्थिति पैदा हुई उसने संसार मे नये महायुद्ध का खतरा सामने ला दिया है। मिस्र में ब्रिटेन और फ्रास ने मिलकर तथा हंगरी में रूस की सेना ने तहलका मचा दिया। यद्यपि दोनो जगह समस्याएं अलग-अलग है, तो भी संसार के लिए इसका परिणाम एक

तो फैलती है—एक शक्ति तो उत्पन्न होती है, परंतु निश्चित योजना और कार्यक्रम के अभाव मे, उस शक्ति से लाभ नही उठाया जा सकता। यह आवश्यक नही कि कोई अखिल भारतीय संस्था ही खड़ी हो, अलग-अलग राज्यो मे, या किसी एक राज्य में इसका प्रयोग किया जा सकता है। अत-र्राष्ट्रीय प्रश्नो के अलावा भारत मे अभी भीतरी शाति-रक्षा का प्रश्न भी तो वैसे ही खडा है। आएदिन के उत्पात और उपद्रवों को रोकने के लिए छोटे-छोटे दल बनाये जा सकते हैं। इस दिशा मे जोर के साथ सोचने और उत्साह के साथ कुछ करने की बहुत आवश्यकता है।

: १२ :

अपनी ओर देखें

कांग्रेस मुख्यतः राजनीतिक संगठन है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश का शासन-सूत्र संभालने की इच्छा यह रखती है। और भी ऐसी पार्टिया और सगठन देश में है; किंतु कांग्रेस उन सबमें बहुत अधिक प्रतिष्ठित और शक्तिशाली है। इसका पहला कारण तो यह है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व मे शांतिमय सत्याग्रह के द्वारा उसने देश को आजादी दिलाई। दूसरा यह कि उसमें त्यागी, योग्य, कार्यकुशल, ईमानदार, परखे हुए नेता और कार्यकर्ता है। इनमे अधिकाश गांधीजी के द्वारा मैदान में लाये हुए हैं—कुछ उनसे पहले के भी है, जिनपर गांधीजी का रंग चढा था और अब भी है। तीसरा यह कि वह केवल राजनीतिक दल नही है, एक महान् देश-सेवक संस्था और संगठन है। महज हुकूमत करनेवाली नही, देश का हर तरह कल्याण करने-वाली प्रगतिशील सस्था है। यही कारण है कि कांग्रेस के नेताओ ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही, भीतरी शाति की चिंता और स्थापना के साथ, देश के विकास-कार्यो को हाथ मे लिया और पिछले कुछ वर्षो मे आशानीत सफलता प्राप्त की। यही कारण है कि कांग्रेस के सर्वोच्च नेता श्री जवा-

हरलाल नेहरू ने अंतर्राष्ट्रीय जगत् में पंचशील की बुनियाद डाली। आज कांग्रेस-सरकार के पास 'हुकूमत' के माने 'देश और जनता की सेवा का एक महान् शक्तिशाली साधन' हो गया है। इसी कारण, मतभेद रखते हुए भी, आम जनता के हृदय में कांग्रेस का अखंड राज्य है और आम चुनाव के अवसर पर देश की तमाम बेमेल राजनीतिक पार्टियों ने इससे संयुक्त मोर्चा लेने की तैयारी की—कोई एक अकेली पार्टी इससे लोहा लेने की हिम्मत नहीं कर सकी है।

परंतु कांग्रेस का यह राजनीतिक रूप जहां इसका अपार बल है, वहां वह इसकी कई भीतरी कमजोरियों का भी कारण बन गया है। अधिकांश कांग्रेसी कार्यकर्ता सत्ता प्राप्त करने, सत्ताप्राप्त जनों को बल देने और कहीं तो महज अपना स्वार्थ साधने के लिए भी, कांग्रेस कमेटियों, विधानसभाओं और मंत्रिमंडलों में, दलबंदी, गुटबंदी, तिकड़म, उखाड़-पछाड़, दाव-पेंच का प्रयोग करने में एक-से-एक आगे बढ़ रहे हैं। सत्ता प्राप्त करना सत्ता का संचालन करना उतना ही महत्त्वपूर्ण और पवित्र कार्य है, जितना कि योग-साधन, ईश्वराधन या ब्रह्मप्राप्ति परन्तु आज इसे लोग गंदा, गर्हित समझने लगे हैं, भले आदमी इससे किनाराकशी करते नजर आ रहे हैं। किसी जमाने में इंग्लैंड में जो मान्यता थी कि राजनीति भले आदमियों का स्थान नहीं है, वही यहां भी चरितार्थ होती हुई दिखाई देती है। भले, सीधे-सादे निकम्मे की गिनती में आने लगे हैं और तिकड़मी होशियार कार्यकर्ता गिने जाते हैं। कई भले कार्यकर्ताओं और सेवाभावी सज्जनों का जगह-जगह पर दम घुट रहा है—उनको किसी एक गुट का साथ दिये बिना खैर नहीं है। इसीलिए कांग्रेस के महान नेता बड़े सोच में पड़ गये हैं, और उद्योग कर रहे हैं कि शासन और सत्ता के साधन ऐसे ही लोगों के हाथों में रहें, जो इन्हें सेवा और समाज-कल्याण में लगाना चाहते हों, न कि अपना स्वार्थ पूरा या महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में।

परन्तु इसमें एक बड़ी कठिनाई है। कांग्रेस प्रजातंत्री संस्था है। किसी एक नेता या सर्वाधिकारी के कहने से इसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इसके

जो सदस्य है, जो मतदाता हैं, वे जिन्हे चुनते है वे ही आ पाते है। वे हजारो-लाखों की तादाद मे हैं। उनपर किसी एक की दुहाई नही फिर सकती, न फिरनी चाहिए। ये मतदाता अभी शिक्षित, जागरूक, कर्तव्य-पालक नही हुए है। चुनाव की पद्धतियां भी ऐसी है कि उनसे तिकड़मी लोगो को सर्वथा रोक पाना कठिन हो रहा है। फिर भले आदमी चुनाव की झंझट, भाग-दौड, भिडंत से बचे रहना भी चाहते है। खर्चे का सवाल अलग परेशान करता है। इनसब तथा अन्य कई कारणो से काग्रेस के बड़े नेता कहातक सफल होगे, यह कहना मुश्किल है। पर इसमें कोई शक नही कि उनका उद्योग सही दिशा मे है, वे काग्रेस को इस तरह बलशाली बनाने का हार्दिक प्रयत्न कर रहे है।

परंतु क्या यह सब हम कांग्रेसी कहे जानेवालो के लिए शोभा या प्रतिष्ठा-वर्द्धक है? जिस माता के दूध का पान करके हम आजाद हुए, भारत-माता के बंधन तोड़ने में कामयाब हुए, नाना प्रकार के कष्ट, यातनाए सही—क्या आज पद-सत्ता के सामने आने पर हम इतने दीन-हीन, कुत्सित, पतित हो गये कि गाधी-टोपी को लोग आज गाली देने पर उतारू हो जाते हैं, काग्रेस के प्राण-प्यारे तिरंगे झंडे के अपमान की कहानियां सुननी पडती है, हमारे प्यारे नेताओ, मुख्य-मंत्रियो, मन्त्रियो, बहनो को उपद्रवो और हिंसा-काडों का सामना करना पड़ता है? क्या हम विरोधी दलो, कम्यूनिष्टो (साम्यवादियो), समाज-विनाशक तत्वो को कोस-कोसकर ही अपना संतोष करते रहेगे? क्या इस तरह हम काग्रेस-माता का बल बढाने की आशा रख सकते है?

हम हरेक काग्रेसी के आत्म-निरीक्षण का यह अवसर है। हमने विरोधियो को बहुत बुरा-भला कहा—ठीक; हमने साथियो में भी दूसरो को बुरा, गुनहगार ठहराया, अपनेको अच्छा साफ-पाक—यह भी ठीक। परतु इस तरह परस्पर दोषारोपण का क्रम कबतक चलेगा? अब क्या हम अपनी कमियो, बुराइयो, कमजोरियो को भी थोडा देखने का प्रयत्न करेंगे? यदि हम सचमुच ऐसा करने का उद्योग करेगे, तो मुझे विश्वास है कि हममें

आदि कई प्रलोभन उसके साथ जुड़ गये है, अतः सभी तरह के लोग उसकी ओर दौड पड़े है। इसके दुष्प्रभाव से काग्रेस खाली नही रह सकी। इसलिए और भी ज्यादा सोचने की जरूरत है।

लेकिन चुनाव मे पड़नेवाली अकेली काग्रेस ही तो नही है—दूसरी राजनीतिक संस्थाएं भी है—जनसंघ, हिंदू महासभा, रामराज्य परिषद्, कम्यूनिस्ट, प्रजा समाजवादी, ये इनमे मुख्य है। इनमें पहली तीन प्राय. एक ढंग से सोचती और चलती है, दूसरी दो प्राय. एक ढंग से। पहली तीनो का आधार प्राचीन विचारो पर है, तो दूसरी दो का आधुनिक। पहली को पुराण-पथी, दूसरी को प्रगतिशील कह सकते है। इनमे भी चुनाव की खलबली स्वाभाविक है।

चुनाव क्यो लड़े जाते है ? इसलिए कि मतदाताओ को अपने मनपसद प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिले। यही प्रजातंत्र है। इसके लिए आवश्यक है कि पहले मतदाता जानें कि कौन-कौन उम्मीदवार हैं और उनके क्या विचार तथा कार्यक्रम है। ये उम्मीदवार अपनेको, अपने विचारो और आदर्शो के अनुसार, भिन्न-भिन्न वर्गो में बाट लेते है—जैसे काग्रेसी, जनसघी, समाजवादी आदि। या यो कहिये कि अलग विचार और आदर्श रखनेवाली संस्थाएं या पार्टिया बनी होती है और उम्मीदवार अपने मत के अनुकूल किसीका सदस्य बनता है और उससे टिकट प्राप्त करके मतदाताओ से मत मागने जाता है। अत मे मतदाताओ के ज्यादा मत जिस दल या सस्था को मिल जाते हैं, वह अपने बहुमत के आधार पर अपने दल का एक नेता चुनती है, वह मंत्रिमंडल बनाकर शासन करता है। यह शासक दल कहा जाता है। दूसरा दल जो हार जाता है, वह अकेला या दूसरे हारे हुए दलो को मिलाकर एक विरोधी या विपक्षी दल बनाता है। उसका भी एक नेता होता है, जो विरोधी दल का नेता कहलाता है। वह शासक या सत्तारूढ़ दल के कामों की कमियां, बुराइया, कमजोरिया, गलतियां बताता है—इस तरह एक ओर वह शासक दल की अप्रत्यक्ष सहायता करता है, दूसरी ओर उसके मुकाबले में अपने दल को मजबूत करता जाता है, जिससे

१. आह्वान

आगे खीचने की ताक़त दिल में है, दिमाग में नही। दिल इंजिन है, दिमाग 'ब्रेक' है। दोनो के विना गाड़ी गन्तव्य स्थान पर—ठीक मुक़ाम पर—नही पहुंच सकती। पर गाड़ी को आगे खीच ले जाने का काम तो इजिन का ही है। इंजिन के ठंडे पड़ जाने पर ब्रेक की ताक़त नही कि वह गाडी को आगे वढा सके। दिल के निरुत्साह हो जाने पर दिमाग़ के वस की वात नही कि वह हमें आगे ले जा सके। दिल हमें आशा दिलाता है, हमे साहसी वनाता है, हमे निर्भयता सिखाता है, हमे सच्चा शूरवीर बनाता है; दिमाग एक ओर जहा हमे भटकने से रोकता है तहा दूसरी ओर हममें छुपे-छुपे कायरता का संचार करता है। योद्धा लोग लड़ाई मे दिल को अपना देवता वनाते हैं। दिल ही उन्हें कुर्वानी की ताकत देता है। दिल ही उन्हे अपने लक्ष्य की झलक दिखाकर उत्साहित करता है। दिमाग़ मे विकास है, दिल मे क्राति है। दिमाग कहता है—"धीरे-धीरे, होशियारी के साथ, जान वचाकर, फूक-फूककर।" दिल कहता है—"कूद पड़ो, मर मिटो। एक दिन तो मरना है। आज की घड़ी नसीव न होगी।"

भारत के नौनिहाल, रामराज्य के लिए, 'सर्वोदय' के लिए दिमागी तरकीवो से काम लेने का खयाल छोड दो। यह धोखा है, माया है। दिल से लड़ो। दिल को आगे वढाओ। दिल पागल है, मतवाला है। देखो, एक 'पागल' दिल ने सारे ब्रिटिश साम्राज्य को हिला डाला था। क्या तुम पागल नही बन सकते? क्या दिमाग पर तुम्हारा दिल विजय नही पा सकता? क्या सोचते ही रहोगे, करोगे नही? कोसते ही रहोगे, आगे नही वढोगे? रास्ता कठिन है, कंकरीला है, इसलिए उस हरी घास पर चलना चाहते हो, जिसे कोसो पीछे छोड दिया है? आज तुम क्राति के मार्ग पर हो। तुम्हारे विचारो मे अद्भुत क्राति हो गई है, अपूर्व जीवन आ गया है। तुम राम-राज्य को अपने दृष्टि-पथ में ले आये हो। अपने चरित्र मे क्राति करो। काम में लग जाओ। यदि निष्फलता आती दीखे तो भी आदर्श व सिद्धात पर अटल रहकर श्रद्धा के साथ इस मार्ग पर वढो। भारत ही नही, विश्व विकट संकट मे है। भारत-माता का हृदय तड़प रहा है, तुम भीतरी

'सर्वोदय' लाकर दे देगा। उसके लिए पागल वनो। देश के सामने राष्ट्र-निर्माण का जो अमूल्य अवसर उपस्थित है, उसकी शर्तें पूरी करो, उसकी कीमत चुकाओ और साथ ही इसके लिए सदा तैयार रहो कि यदि यों कुछ न होगा तो अपने अथक श्रम, तप, त्याग व वलिदान के रण-डके से आकाश को कंपित कर देगे । वस भारत के लिए पागल वनो, नवनिर्माण के लिए 'करो या मरो।' यही समय है। फिर एक वार पागल वनने का यही समय है।

: २ :

'एकला चलो रे'

पिछले सात-आठ सालों की घटनाओ पर जव दृष्टि डाली जाती है तो भारत-माता का गंभीर शोकाकुल चित्र आखो के सामने खडा हो जाता है। क्या राष्ट्रीय और क्या सांप्रदायिक, दोनो जगत् में छिन्न-भिन्नता, विशृंखलता और अराजकता का काफी जोर रहा। काग्रेस में दलवंदी व पद-लोलुपता जोरो पर है तो वाहर दूसरी पार्टियां परेशानी पैदा कर रही हैं। धार्मिक या सांप्रदायिक जगत् में तो धर्म-संस्कृति और जाति के नाम पर हमने पहले वेरोक खून की नदिया वहाईं ही—वच्चो व वहन-वेटियो पर अत्याचार किये ही। परंतु राष्ट्रीय जगत् में भी भारत के पुर्ननिर्माण के प्रश्न को लेकर हमने वही दृश्य दिखा दिये। चाहे राष्ट्रीय प्रश्नो को लेकर, चाहे सांस्कृतिक और साप्रदायिक प्रश्नों को लेकर ये उपद्रव-मार-काट होते हों, मेरी राय में मूल दोनों का एक ही है—भारत की पुरानी फूट की वीमारी। फूट भारत की सवसे भयंकर और हृदयदाहक कमजोरी है। फूट का मूल है अंध और घृणित स्वार्थ। प्राचीन काल की वह फूट ही आज हमारे विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रो मे दलवंदी, मतभेद, मारकाट आदि के रूपो में प्रकट हो रही है। जहा एक सस्था वनी नहीं कि उसमे पर-

स्पर-विरोधी दो दल बने नही। मत-भेद को कहानक सीमित रखना, यह विवेक हमसे आज तो दूर ही नजर आता है। मत-भेद की अवस्था में हम सस्था के हित और उद्देश्यो को भूल ही जाते है और अपने क्षुद्र स्वार्थ, महत्वाकाक्षा, अभिमान आदि के वशीभूत होकर वैमनस्य मोल ले लेते है। हमारे अंदर क्षुद्रताओ, मलिनताओ से ऊपर उठने की शक्ति आनी चाहिए। हमारी दृष्टि व्यापक और उदार होनी चाहिए। यह बात नही कि हमारे अधिकाश शिक्षित और सहृदय देश अथवा समाज-सेवक इन अभावो को न जानते हो, पर विचार पर विकार इतना प्रभुत्व जमा लेता है कि विवश ही रहते है। इसका मूल कारण यह है कि इन अभावो, त्रुटियो, दोनो से उनके दिल को गहरी चोट नही पहुंचती। उनका दिल इस बात के लिए बेचैन नही होता, तड़फता-छटपटाता नहीं कि कब इससे हमारा छुटकारा हो। जब यह पीड़ा हमारे हृदय को विकल कर देगी, तब उनके दु:ख और आनंद, क्षोभ और उत्साह को हम अच्छी तरह अनुभव करेंगे। उस समय हमें अपनी कमजोरियों का भयंकर और नाशकारी सच्चा रूप दिखाई देगा और हम उन्हे दूर करने के लिए मतवाले हो जायगे। मुझे तो हमारी इस राष्ट्रीय फूट में सामाजिक छिन्न-भिन्नता में समता और स्वतत्रता की लगन की कमी दिखाई पडती है।

यह तो हुआ भारत-माता का शोक-संतप्त और चिंताग्रस्त चित्र। यह खून से रगा हुआ और फूट से भरा हुआ जरूर है, पर है सजीव। इसमें दु ख और शोक भले ही हो, पर निराशा नही है। सघर्ष और सग्राम-ज्योति के चिह्न चाहे न हो, जीवन और जाग्रति के चिह्न अवश्य होते है। राष्ट्रीय विशृंखलता और सामाजिक छिन्न-भिन्नता ऊपर से हमे अधीर बना देते हो, पर भीतर-ही-भीतर जो तेज और चैतन्य अपनी जड जमा रहा है उससे आखे नही मूदी जा सकती। अन्याय और अत्याचार को सहन न करने की प्रवृत्ति जबतक बनी हुई है, उसके दर्शन जबतक हो रहे है, फिर वे अवाछ-नीय रूप मे ही क्यो न हो, तबतक निराश होने का प्रयोजन नही। जिन हृदयो में ईश्वर ने यह बेचैनी पैदा कर दी है और जो हृदय अपनेको बलि-

वेदी पर चढ़ा चुके हैं, उनका उत्साह, त्याग और तप-जप बढ़ रहा है, तब-तक ये चिना और विषाद की घटाएं हमारे दिल को तोड़ नही सकती। वे तो हमें उलटा और दृढ बनाने तथा आगे बढने के लिए 'एड लगाने' का काम देती हैं। अतएव वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक दोषों के अंदर छिपे-छिपे काम करनेवाली रचनात्मक शक्तियो को भूलकर बैठना कदापि उचित नही, बल्कि उसके तेज से उद्दीप्त होकर, कठिनाइयो, बाधाओ, चिताओ और अनुत्साह के बादलो को चीरकर एक-एक कदम क्यो न हो, आगे ही बढ़ने का यत्न करना चाहिए। कवि-सम्राट् ने ऐसे समय के लिए क्या ही सुदर और स्फूर्तिमय संदेश हमे दे रखा है—

एकला चलो रे,
जदि तोर डाक सुने केउ ना आशे,
तबे एकला चलो रे।

बापू के महा-बलिदान से, विनोबा के महान तप से, जवाहर के अथक श्रम से हमारी सुप्त व शिथिल आत्मा जाग्रत हो उठी है और उसका स्थान उत्साह तथा काय-श्रम दिन-दिन लेता जा रहा है। यही अवसर है जब बापू के 'करो या मरो' के सदेश को नये सिरे से घर-घर फैला दें—राष्ट्रीय फूट और साम्प्रदायिकता की जड़ को काटने में हम अपने-आपको झोक दें, खपा दें।

: ३ :

सबसे पहला प्रश्न

इस समय देश में मतभेद तथा विचार-धाराओ और विभिन्न स्वार्थों के भाव जोर पर हैं। इतने बड़े देश में आदर्श तो सबके सहसा एक हो नही सकते। उनमें मतभेद रहना ही है तो उन्हे अंत में सहन ही करना चाहिए। उनके लिए ज़ोर-जबरदस्ती मे, धोखाधडी व मारकाट से, काम न लेना

चाहिए। इसके लिए कार्यकर्ताओं का संगठन जरूरी है। हमारे देश में विद्या-बुद्धि, त्याग, साहस, पराक्रम, कार्य-तत्परता, व्यवस्था और संगठन-बल रखनेवाले कार्यकर्ता, संख्या और गुण की दृष्टि से, कम नहीं है। अपने-अपने ढंग से वे जहां-तहां अपनी-अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार काम भी कर रहे हैं; किंतु एक तो वे एक नियंत्रण में नहीं हैं और, दूसरे परस्पर शृंखलाबद्ध नहीं हैं। इससे भिन्न-भिन्न कारणों से आपस में टकरा जाते हैं, और इससे भी बढ़कर दुःख की बात यह है कि इससे उन शक्तियों में अधिक कार्य-बल आने के बजाय वातावरण दूषित बनता है, जिससे निर्दोष सांस लेना कभी-कभी कठिन हो जाता है। मेरा अनुभव तो यह है कि कोरा मत-भेद या सिद्धांत भेद कभी गंदगी पैदा नहीं करता। महात्माजी और पं० जवाहरलालजी में क्या मत-भेद नहीं था? सरदार वल्लभभाई पटेल और नेहरूजी में क्या मत-भेद नहीं था?

वैमनस्य, कटुता, गंदगी ये मत-द्वेष और व्यक्ति-द्वेष से पैदा होते हैं और इनका मूल है या तो अनुचित महत्वाकांक्षा या सस्ती प्रसिद्धि और बड़प्पन की चाह।

यदि मनुष्य अपने गुणों के बल पर बनता हो, आगे आता हो, तो उसे न कोई रोक ही सकता है और न उससे वातावरण की स्वच्छता बिगड़ सकती है, किंतु जब वह दूसरों की कृपाओं के सहारे, या दूसरों को गिराकर अथवा पीछे हटाकर, तिकड़म या उखाड़-पछाड़ के बल पर ऐसा करना चाहता है, तभी कटुता और गंदगी फैलने लगती है, क्योंकि इन दोनों के लिए उसे अनुचित साधनों से काम लेना पड़ता है। इसलिए केवल सत्य का प्रकाशन नहीं, बल्कि दूसरों का विरोध उसे आवश्यक मालूम पड़ता है। जब ऐसा प्रतीत होने लगे कि अमुक व्यक्ति आगे बढ़ रहा है, उसे जनता के सामने से हटाये बिना मेरी पूछ नहीं होगी, तभी समझना चाहिए कि हम गिरावट के रास्ते चल पड़े हैं और हमारी इस मनोवृत्ति से जो कार्य होंगे वे वातावरण को दूषित किये बिना न रहेंगे। फिर उन्हें हम चाहे कितने ही छिपाकर और संभल-संभलकर करें अथवा कितना ही सौम्य, शिष्ट और

भद्र स्वरूप दे ।

ऐसी दशा मे, मेरी समझ से, हमारे सामने इस समय सबसे पहला और सबसे बड़ा प्रश्न है अपनी तमाम बिखरी हुई शक्तियो को एकत्र और संगठित करके परस्पर-पोषक कामो में लगा देना ।

यह कैसे हो, इसका निर्णय कार्यकर्ताओ को परस्पर मिलकर अपने ही मत से करना चाहिए और इसमें उन्हें एक मिनट का भी विलंब न करना चाहिए । इससे भी अधिक तात्कालिक काम हमारे सामने है, महात्माजी के बलिदान को सार्थक बना देना । उनका शरीर भले ही न रहा हो, पर उनकी अंतरात्मा एक उज्ज्वल भावी की, एक ऐतिहासिक युग की, झलक हमें दिखा रही है । तब कौन ऐसा अभागा और कुपूत होगा, जो अपने को उस विश्व-गौरव के योग्य न साबित करेगा ? अपने टूटे-फूटे क्यो न हो, पर श्रद्धावान, हृदयो को उसके लिए आगे न बढ़ावेगा ?

: ४ :

बलि-वीरों की जरूरत

महात्माजी के निधन के बाद देश को बलि-वीरों की जरूरत और भी ज्यादा होगई है। उनके बलिदान ने साम्प्रदायिक ज़हर की लहर को रोककर इसकी जरूरत अच्छी तरह साबित कर दी है। ऊपर से सरकार द्वारा और नीचे से बलि-वीरो द्वारा सम्मिलित काम होने की आवश्यकता है । हमारे नौनिहाल अपने-आपको इसके लिए समर्पण करें जो अब भी गुलाम, विवश व बेकस है उनकी बेड़ियो को काटने के लिए और जीवन को भारभूत, अमंगल, सत्वहीन बना देनेवाली असहायता के गर्त से देश को उठाने के लिए कोई भी कुरबानी कम नही है । वे सचमुच ही भाग्यशाली हैं, जो समय पर अपनी कुरबानी की भेट चढा देते हैं । वे मंदभागी है जो सुनते और समझते रहते है, और वे कायर हैं, जो बलिवेदी पर चढनेवालों का मखौल उड़ाते हैं ।

परंतु महज जोश, उभाड़ और आवेग से हमारा बेड़ा पार न होगा। हमारा सारा जोश-खरोश जबतक हमारे कार्यों में प्रतिबिंबित न होगा तबतक रामराज्य आस्मान से नही उतर पड़ेगा। हमें अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न काम चुनकर उनमें अपने जीवन का बहुमूल्य समय लगाना होगा। अनुशासन में बंधकर हमे अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना होगा। अर्जुन को जैसे मत्स्यवेध करते समय सिर्फ मछली की आख की पुतली दिखाई देती थी, वैसी एकाग्र-भावना करनी होगी। देश के कोने-कोने मे, जहां जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार, रामराज्य का जीवनदायी सदेश पहुंचाना होगा।

इसके लिए सबसे बड़ी असली बात यह है कि प्रत्येक सेवेच्छु नीचे लिखी बातो का निर्णय करे और जो सलाह दी गई है उसपर ध्यान दे।

१. रचनात्मक, आदोलनात्मक, सगठनात्मक, प्रचारात्मक, प्रशासनात्मक इनमें से किस कार्य मे उसकी विशेष रुचि है, और किसके योग्य वह अपनेको अधिक समझता है?

२. किस संस्था या सगठन के द्वारा काम करने का उत्साह रखता है?

३. यदि स्वतत्र रूप से ही काम करना हो तो अपने साथी, सहायक आदि को पहले तैयार करके काम शुरू करें।

४. यह भी देख लें कि शहर में काम करना है या गांवो मे। अब गांवो में काम करने की ज्यादा जरूरत है।

५. यदि विवाह हो गया है तो अपनी पत्नी को सच्चे अर्थ मे अपनी सहयोगिनी बनाने का काम तुरत शुरू कर दे, अर्थात् उसकी शिक्षा और प्रकृत-कार्य मे उपयोगिता और योग्यता बढाने का उपाय करे।

६ अपनी आवश्यकताए सीमित रखे, और सिर्फ दाल-रोटी पर आनद और मस्ती के साथ गुजर करने का प्रण करके इस मार्ग मे कदम बढावे।

७ मजदूरो में काम करना हो तो पहले किसी अच्छे मजदूर-संघ मे काम करके उसकी तालीम ले ले।

८. खादी पहनने का निश्चय करें, सब जातियो में ऐक्य स्थापन करने

की दृढ़ भावना रखें।

६. हर तरह की कठिनाई और खतरे का मुकावला करने की तैयारी मन मे कर लें।

जो इस महान् यज्ञ मे अपनी आहुति देना चाहे वे इन वातों का विचार करके ही निश्चय करेगे तो अच्छा होगा। कच्चे-पोचो के लिए यह मैदान नही है—उन्ही वलि-वीरो के लिए है, जिन्हे रात मे भी रामराज्य के सपने आते हो, और इस कल्पना से भी जिनका हृदय उछलता हो कि इस यज्ञ में मेरा सर्वस्व स्वाहा हो जाय।

: ५ :

विद्यार्थी रुख वदलें

देश में इन दिनो अंदर-अंदर एक किस्म की अराजकता-उच्छृङ्ख लता के दर्शन चहु ओर हो रहे है। विद्यार्थी भी इससे वचे नही है। अभी उन्ही तरीको को वरतते जा रहे हैं जो ब्रिटिश-सरकार के समय में वरते जाते थे। वे अपनी ही सरकार के प्रति सीधे चोट या सत्याग्रह से काम लेने लगे हैं, जिसका समर्थन नही किया जा सकता। विदेशी सरकार के प्रति हम जो रुख अवतक रखते थे, उसे अव हमें वदल देना होगा। हमारी अपनी सरकार की भावना तो हमारे प्रत्येक वर्ग की उन्नति व भलाई की ही हो सकती है—हां, अनिवार्य कठिनाइयो से वह जल्दी सफलता न पा सके, यह दूसरी वात है। उन कठिनाइयो को महसूस करके हमें धीरज से काम लेना चाहिए। उसे परेशान करने या कमजोर वनाने की कोशिश करना अपने ही पैरो कुल्हाड़ो मारना है। यदि वह सरकार निकम्मी वन गई हो, भ्रष्ट हो गई हो तव तो उसे वदल देने का अधिकार हमें ही है, किंतु जवतक ऐसी स्थिति नही पैदा हुई है, वात-वात में 'सीधी चोट' का अवलवन करना या तो हमारी विचार-विवेक-हीनता का सूचक है, या सरकार के प्रति विरोधी रुख का। यदि विद्यार्थी विवेक खो देगे तो वे ही घाटे में रहेंगे और यदि विरोधी

रुख रखेंगे तो कोई भी नागरिक अपनी सरकार के विरोधी को सहन नहीं कर सकता। सरकार तो भला क्यों सहने लगी ?

अत. अब वह समय आ गया है जब विद्यार्थी सरकार के प्रति आंदोलनकारी रवैये को बदलें, रचनात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावें, व अपनी आवश्यकताए तथा मांगें विधि-विहित मार्गों से पूरा कराने का उद्योग करें। जब देश को विदेशियो के पंजे से छुड़ाना था तब तो उनका पढना-लिखना छोड़कर भी आंदोलनों में कूद पड़ना एक हद तक अनिवार्य हो जाता था, परंतु अब उन्हें विद्यार्थी जीवन में एक सच्चा व स्वावलंबी नागरिक बनने के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने का ही उद्योग करना चाहिए। पार्टीबाजी, उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, दुराग्रह, अविवेक व इनको प्रोत्साहन देनेवाली प्रथाओं से उन्हें बचना चाहिए, नहीं तो वे अपना ही भविष्य खराब करने के कारण बन जायगे।

: ६ :

यह हल नहीं है

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बनने के समय हमने खुद भी अपनी आंखों से जो भयंकर दृश्य देखे, वे दिल पर यह असर डालते थे कि उस समय पाकिस्तान और हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में मनुष्यता, भाईचारा, स्नेह, दया जैसी कोई चीज नहीं रह गई थी और मनुष्य मानो षड्यंत्र की तरह आख मीचकर अंधाधुंध हत्याकांड मे लग गया था। इसमें कोई शक नहीं कि इस जहरीले वातावरण की जिम्मेदारी मुस्लिम-लीग के नेताओं पर है, जिन्होंने हिंदुओं के खिलाफ मुसलमानों में द्वेष और घृणा का प्रचार किया और उन्हें हिंसा-काण्ड के लिए उभाड़ा। जो रोमांचकारी कांड हुए उनसे तो हमारा हिंदू ही नहीं, हिंदुस्तानी ही नहीं, मानव-हृदय भी थर्रा उठता है। कभी शंका होती है कि जिन्नासाहब अंग्रेजों से मिलकर हिंदुस्तान

के खिलाफ गहरी साजिश तो नही कर गये ! कभी खयाल होता है कि माउण्टवेटन साहब ने जल्दी-जल्दी विभाजन करके हम लोगों को वेवकूफ तो नही बना दिया और दोनो को बुरी तरह से लड़ाकर यह साबित करना तो नही चाहते थे कि अंग्रेजो की शक्ति और सहायता के विना हिंदुस्तान और पाकिस्तान मे शाति कायम नही रह सकती। लेकिन मन मे यह सवाल उठता है कि दोप वेवकूफ वनानेवालों का या बननेवालो का ? हम हिंदू और मुसलमान अंग्रेजो के हथियार बने ही क्यों ? और आगे विचार करने पर यह खयाल कमजोर दिमाग की उपज मालूम होता है। निर्बल बुद्धि सदा दूसरे को दोप दिया करती है । यदि हिंदुस्तान में मुसलमानो की ज्यादा तादाद बन गई तो उसके दोपी हम हैं। यदि अंग्रेज हिंदुस्तान में आ घुसे तो उसकी जिम्मेदारी हमपर है । यदि अंग्रेज हिंदू-मुसलमानो को लडाने मे या खून-खच्चर कराने में कामयाव हो गये तो इस दोप के भागी हम है । जिस दिन यह भाषा हम बोलने लग जायगे उस दिन इनसव कठिनाइयो में से सही रास्ता हमको मिल जायगा ।

अभी तो हमने खून की होली इस तरह खेली कि समझ, विवेक और दलील की कोई पहुच हमारे मन तक नही हुई । खून तो हमारा भी खौलने लगता था और क्यो न खौलता ? परतु महज खून खौलने से या बदला लेने और लेते रहने से क्या यह समस्या हल हो जायगी ? क्योकि हमें अंधा-धुध बहे जाना तो है नही । एक निश्चित योजना के अनुसार एक निश्चित परिणाम निकालना है। जितना भी हिंदुस्तान हमारे पास बच रहा है उसे सुदृढ, शक्तिशाली, तेजस्वी, प्रगत और उन्नत बनाना है। रोजमर्रा की मार-धाड अधा-धुधी से तो नही बन सकता। कभी तो इसे रोकना और बद करना ही पडेगा । अच्छा, पाकिस्तान से दो करोड़ हिंदू मर-कट-कर या बचकर हिंदुस्तान में चले आये और उसके विशाल उदर में समा गये । इससे पाकिस्तान तो सुदृढ हो गया, पर क्या हिंदुस्तान की समस्या हल हो गई ? यहा के पाच करोड मुसलमानो का क्या करोगे ? यदि उन्होंने अपनेको हिंदुस्तान का नागरिक बना दिया और सचमुच बना लिया, तब

तो कुछ समस्या नही रही । पर क्या यहां मुसलमानो की मार-काट करने से वे हिंदुस्तान के नागरिक बन जायंगे, और मारे डर के बन भी गये तो कितने दिन तक ? हां, पाच करोड को कत्ल कर सको तो बात दूसरी । परंतु इस कल्पना मे तो सामने अंधकार-ही-अंधकार दीखता है । करोड़ो के रक्त में नहानेवाले हिंदू-राष्ट्र का इतिहास में क्या स्थान होगा ? इससे हिंदू-संस्कृति, हिंदू-आदर्श की उच्चता और श्रेष्ठता कितनी सिद्ध होगी ? जब यह सवाल सामने आता है तो होश ठिकाने आने लगता है । बदले और प्रतिहिंसा से काम चलता नही दीखता । जोश और आवेग को रोककर ठंडे दिमाग से काम लेने की जरूरत महसूस होती है । आत्म-रक्षा एक बात है, बदला लेना दूसरी बात है । और यदि बदला ही लेना है तो हमारी सरकार बदला लेने के लिए काफी है । हिंदुस्तान के लोगो को चाहिए कि उसकी जिम्मेदारी अपनी सरकार पर छोड़ दे । उसे पहले अपने तरीके आजमाने का पूरा मौका दें । वह असफल होगी तो अपने-आप बदला लेने की स्थिति में आ जायगी । खून-खच्चर से हमारे मन को थोड़े समय के लिए भले ही सतोष हो जाय, परतु उनसे हिंदुस्तान की विकट समस्या हल नही हो सकती । वह तो सरकार का काम सरकार को करने देने से ही होगी । यदि सरकार का कानून हम अपने हाथ में लेने लगेगे तो हम ऐसी अंधेरी खोह में जाकर गिरेंगे, जिसपर लिखा है 'बरबादी, सत्यानाश' । यदि हम शाति और उसके फलस्वरूप उन्नति चाहते हैं तो हमें प्रतिहिंसा और अत में हिसा भी छोडनी पडेगी । आज की यह अराजकता कुछ समय तक चलती रही तो फिर अंग्रेजो की शरण लो, या किसी जबर्दस्त शक्ति की गुलामी मजूर करो । यदि यह प्रिय नही है तो अपने फर्ज को अदा करो और नेहरू-सरकार को पूरा मौका देकर इस कठिन समस्या मे उसके हाथ मजबूत करो ।

: ७ :

असली काम

कई राज्य टूटकर वड़े-वड़े राज्य वन गये हैं। यह भारी काम हुआ। परंतु सच पूछिये तो असली काम का समय अभी आया है। ऊपरी ढाचा ठीक-ठाक हो जाने से काम नही चलेगा। वल व सगठन भी वढाना है। हमारा भीतरी वल है हमारे नेताओ, कार्यकर्त्ताओ व साथियो का उच्च आदर्श जीवन, उत्कृष्ट चारित्र्य, व्यवहार-दक्षता, अनुशासन-प्रियता व कार्य-कुशलता। व्यक्तिनिष्ठा, संस्थानिष्ठा व तत्वनिष्ठा—तीनो निष्ठाओ का समुचित सम्मेलन उनके जीवन मे होना चाहिए। व्यक्ति-निष्ठा का मतलव है अपने नेताओ के प्रति आदर व वफादारी, उनकी इज्जत हमारी इज्जत, उनकी वदनामी हमारी वदनामी, यह भावना। सस्था-निष्ठा का अर्थ है अपने व्यक्तित्व से संस्था को वडा मानना, संस्था के निर्णय से अधिक महत्व अपनी व्यक्तिगत सम्मतियो को उस संस्था के काम में न देना, ईमानदारी से उन निर्णयो पर अमल करना व कराना। तत्वनिष्ठा का मतलव है—जिस आदर्श या सिद्धांत पर हमारी संस्था या जीवन खड़ा है उनके प्रति लगन, दृढता, भक्ति, आस्था तथा अविचलता। व्यक्तिनिष्ठा से संस्थानिष्ठा की ओर व तत्वनिष्ठा की ओर जाना प्रगति का लक्षण है, क्योकि ये तीनो निष्ठाएं एक-दूसरी से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। हमें इस सफलता के अवसर पर यह कदापि न भूलना चाहिए कि हमारी यह भीतरी शक्ति व शुद्धि ही हमे अपनी वाहरी शक्ति, विरोधियो से लडने व विजय पाने का वल, उत्साह नया तेज प्रदान करती है। जितना ही अधिक यह भीतरी वल हमारे पास होगा उतने ही कम वाहरी साधन हमारे लिए आवश्यक होगे।

इन गुणो की वृद्धि व इन शक्तियो को प्राप्त करने के लिए जो वहु-मुखी राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यक्रम देश के सामने है वह रामवाण साधन है। भले ही विनोवा उसे 'भूदान' के नाम से चलावे, सरकार विकास-कार्य के नाम से, काम हमें निर्माण का—रचना का ही करना है।

जब भी शासक दल का बहुमत न रहे, वह शासन सम्हालने के लिए तैयार मिले। पश्चिमी प्रजातंत्र में यह विरोधी या विपक्षी दल अत्यंत आवश्यक माना गया है। वह आगे शासन का भार लेनेवाला दल समझा जाता है। इसलिए उसके बिना प्रजातत्रीय शासन की सफलता नही मानी जाती है; क्योंकि यदि कोई विपक्षी दल नही है तो शासनारूढ दल को सजग और सावधान कौन करेगा और आपत्ति या आवश्यकता के अवसर पर शासन-भार कौन ग्रहण करेगा ? इसलिए विरोधी दल का बडा महत्व है।

परतु भारत में आज विरोधी दल बहुत कमजोर है। विचारो और आदर्शो की एकता अथवा समानता के ही आधार पर तो दल बन सकता है या विभिन्न दल एकता के सूत्र में बध सकते है। यो पूर्वोक्त पुराण-पथी तथा प्रगतिशील दोनो श्रेणियो के विभिन्न दल काग्रेस-विरोधी है और सब मिलकर काग्रेस से बढ भी जाते है। १९५२ के चुनाव मे सब विरोधी दलो ने मिलकर ५५ फीसदी मत प्राप्त किये थे। परतु शासन-भार काग्रेस को सम्हालना पडा, क्योकि उसी एक दल का बहुमत प्रायः सभी राज्यो में हो पाया था। दूसरे दल अलग-अलग रहे और थोड़े-थोडे मत प्राप्त करके रह गये। अत अब कुछ विपक्षी दल सोच रहे है कि हम जितने अधिक दल आपस मे मिल सकें, उतने मिलकर काग्रेस का मुकाबला करें।

महज काग्रेस का ही मुकाबला करना हो तो पुराण-पथी और प्रगतिशील सभी मिलकर सयुक्त मोर्चा बना सकते है और यह भी मान लीजिये कि काग्रेस को चुनाव में हरा दिया। अब आगे क्या ? शासन तो चलाना होगा न ? यदि इन सब दलो के आदर्श, विचार, कार्यक्रम जुदा-जुदा है तो फिर किस आधार पर सब मिलकर नेता चुनेंगे और शासन-कार्य चलेगा ? प्राचीन भारतीय परपरा, सस्कृति और वर्ण-व्यवस्था के आधार पर समाज-विकास की योजनाए बनेंगी, या साम्यवादी और समाजवादी आर्थिक-सामाजिक समानता के आधार पर ? अथवा, इस कल्पना को छोडकर पुराण-पंथी तथा प्रगतिशीलो के अलग-अलग गठबधन का हिसाब लगायें। यह कुछ समझ मे आने लायक बात है। जनसंघ, हिंदू महासभा, रामराज्य-परिषद्

में कोई वैचारिक भेद ऐसा नहीं दीखता जिससे ये एक होकर चुनाव न लड़ सकें और यदि बहुमत हो गया तो शासन-भार न ग्रहण कर सकें। अलबत्ते प्रगतिशील दलो मे---साम्यवादियो तथा प्रजा-समाजवादियो मे---एक बड़ा अंतर है, हिंसा-अहिंसा का। साम्यवादियो ने हिंसा का परित्याग नही किया है, जबकि समाजवादियो ने संभवतः शुरू से ही उससे नाता तोड दिया है। दोनो मे इस महान् भेद के रहते हुए इनका मिलकर शासन-भार चलाना असभव नही, तो कठिन अवश्य है।

किंतु आप कहेगे, आप तो बहुत दूर चले गये। शासन-भार लेने की स्थिति पैदा हो या न हो, कांग्रेस की उद्दाम गति को रोकना जरूरी है। वह अनियन्त्रित-सी हो रही है। चुनाव मे यदि वह सरपट दौडती हुई बहुमत ले गई तो फिर खुदा ही हाफिज है। भारत में नाम-ही-नाम का जनतंत्र रहेगा--उसकी ओट में और उसके नाम पर निश्चित अधिनायकत्व आ जायगा। कांग्रेस को और देश को इस खतरे से बचाना है। यह तभी हो सकता है जबकि विरोधी दलो की ऐसी सख्त मोर्चाबंदी की जाय कि चुनाव जीतने मे कांग्रेस को एक बार पसीना आ जाय। इससे दो लाभ होंगे---एक तो कांग्रेस विरोधी दलो की, उनके विचारो, भावनाओ, सुझावों की ज्यादा कद्र किया करेगी, दूसरे उसके अदर भी एक शुद्धीकरण की, आतरिक सघटन को सुदृढ करने की प्रेरणा जगेगी, जो धाधली, मनमानी, आपाधापी जगह-जगह चलती नजर आती है, उसमें कुछ रुकावट आवेगी।

इस दृष्टि से बेमेल पार्टियों के संयुक्त मोर्चे का सवाल लाया जाता है। जबतक शासना-भार उठाने की तैयारी नही है, या वह लक्ष्य सामने नही है, केवल एक अमुक पक्ष के विरोध की, उस ताकत को रोकने की, भावना है, तबतक ऐसा दल या सयुक्त मोर्चा ज्यादा दूर या ज्यादा देर चल न सकेगा। केवल निषेधक-दोषदर्शक क्रिया, किसी विधेयक या रचनात्मक या पूरक कार्यक्रम के बिना, आगे चलकर वंध्या की तरह हो जाती है। परतु एक दलील जोरदार मालूम होती है। शक्ति-संगठन, प्रभाव की दृष्टि से आज कांग्रेस का मुकाबला किसी भी एक दल के लिए बहुत

कठिन है। इसमें कोई विवाद या मतभेद नहीं है, परंतु सामाजिक आदर्श से जहांतक संबंध है, कांग्रेस प्रजा-समाजवादी दल के आदर्श से पीछे है। सबसे आगे बढ़ा हुआ आदर्श तो है 'सर्वोदय', जहांतक आगे-पीछे कांग्रेस को जाना है, या जाना चाहिए। कांग्रेस को भी वह अमान्य नहीं है, क्योंकि उसके नेता जवाहरलालजी ने बोलपुरवाले कांग्रेस-महासमिति के अधिवेशन में समाजवादी ढंग की जगह सर्वोदय की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। परंतु वह तो ठीक, अभी कांग्रेस शुद्ध समाजवाद तक भी तो नहीं पहुंच पाई है। सिर्फ उसका झुकाव उस तरफ हुआ है। वह यहीं न रुकी रहे, इसलिए एक प्रहरी की आवश्यकता है। वह है प्रजा-समाजवादी दल। वह यदि कांग्रेस को जगाता रहता है, समाजवाद की मशाल जलाता रहता है तो कांग्रेस की सेवा करेगा। इस इतने से काम के लिए भी प्रजा-समाजवादी दल और उसका चुनाव लड़ना जरूरी है, क्योंकि प्रजा-समाजवादी दल सर्वोदय और समाजवादी ढंग के बीच कड़ी या सीढ़ी है। वह कांग्रेस को समाजवाद की ओर खींचती रहेगी, अपनी संगठन-शक्ति से नहीं, अपने विचार की महत्ता और श्रेष्ठता से। प्रजा-समाजवादी दल का यह सीमित उपयोग हमें भी ठीक लगता है।

यह शासक दल और विपक्षी दल की तजवीज, जनतंत्र सार्थक हो और और संस्था या समाज की व्यवस्था अक्षुण्ण चलती रहे, इस दृष्टि से की गई है। किसी संस्था, समाज या देश का कारोबार चलाने के लिए परस्पर पूरक के रूप में, इन दोनों दलों की कल्पना की गई है। किंतु क्या वह सफल हुई है? क्या इस कल्पना में सुधार नहीं किया जा सकता? इससे आगे नहीं बढ़ा जाय? जनतंत्र के अबतक के तमाम अनुभवों से लाभ उठाकर, उनके प्रकाश में कोई नवीन प्रयोग न किया जाय? ऐसी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती, जिसमें पक्ष-विपक्ष न रहें? एकमत से ही सब काम हो सकें? क्या यह असंभव है? या अनुचित है?

हमारा प्रजातंत्र चुनाव के आधार पर खड़ा है। चुनाव के अंत में कोई सफल होता है, कोई विफल। कोई जीतता है, कोई हारता है। जो जीत

गया, वह तो सत्ताधारी होगया, जो हार गया, उसका क्या हो ? जीतनेवाले को 'बहुमत' और हारनेवाले को 'अल्पमत' के नाम से पुकारते है। अल्पमत का भी तो आखिर अस्तित्व है, एक क्षेत्र, एक दायरे का तो वह भी प्रतिनिधित्व करता ही है। जनतत्र प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली है। उसमें यदि अल्पमत उपेक्षित ही रहा, उसका कोई उपयोग, कोई आवाज, कोई प्रभाव नही रहा तो इस प्रणाली को संपूर्ण नही कह सकते। इसलिए उसे पूरक मानकर, भावी शासन-व्यवस्था सभालने की जिम्मेदारी उसपर डाल देने से, वह एक जिम्मेदारी और कर्तव्य-परायणता के साथ काम करेगा।

परंतु प्रश्न यह है कि आम चुनाव के समय तो बहुमत और अल्पमत के भेद को टालना असंभव है। जबतक मत लेने की प्रणाली रहेगी, तबतक आम चुनावो मे भी सब जगह एकमत से चुनाव हो जायं—यह कल्पना बडी दुरूह मालूम होती है। इस विशाल चुनाव को छोड़ दें तो छोटी-छोटी समितियो और संस्थाओ में जो नित्य बहुमत और अल्पमत का भेद दीख पडता है, और आगे जाकर भी झगड़ा चलता रहता है, उससे बचना जरूरी है और हमारी समझ से बचा भी जा सकता है। विधानसभाओ, लोकसभाओं, राज्यसभाओ मे जो बहुमत-अल्पमत का भेद, दिन-प्रतिदिन के कामो में, रखा जाता है, रखना पड़ता है, उसको मिटाना जरूरी है, वह आवश्यक भी मालूम पड़ता है। उसमे हमेशा अल्पमत को यह शिकायत बनी रहती है कि बहुमत हमारी नही सुनता—मनमानी करता है। बहुमत के बल पर अपनी सब चीजे हमपर लादता रहता है। यह अहसास जनतंत्र की सफलता, यथार्थता और सार्थकता का बाधक है। उधर बहुमत को काम की, नतीजा लाने की, अपनी लोकप्रियता की इतनी जल्दी और उत्सुकता रहती है कि अल्पमत की ओर उतना ध्यान नही जाता। बहुमत का विश्वास तो रहता ही है, अतः अल्पमत की उपेक्षा अपने-आप होती रहती है, बल्कि कभी-कभी तो अल्पमत एक झंझट-सी मालूम होने लगता है, बाधक और रुकावट भी लगने लगता है। इनसे दोनों का संबंध परस्पर प्रेम, सद्भाव, सहयोगपूर्ण तथा पूरक न होकर प्रतिस्पर्धा, आलोचना और विरोधपूर्ण हो जाता है और 'लगे विनायक

बनाने, बना बैठे बंदर'—ऐसी गति और स्थिति हो जाती है। फिर यह विवाद, कलह, विरोध, समितियों और संस्थाओं के अंदर तक ही सीमित नहीं रहता, अखबारों में और सभामंचों पर भी जा पहुंचता है। पर्चों, पुस्तिकाओं का विषय बनता है। आगे चलकर काले झण्डे, धरना, भूख-हड़ताल, उत्पात, उपद्रव के रूप में प्रकट होता है। फिर सरकारी पुलिस के डंडे, गैस, गोली-कांडों का नंबर आता है। जो विपक्षी दल जनतंत्र की सफलता के लिए, समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक पूरक रूप में पैदा हुआ था, वह अंत में कहां जा पहुंचा! जो भरत बनने चला था, वह रावण रह गया! ऐसी स्थिति में हम पड़ जाते हैं। इसपर गंभीरता से विचार करने की, कोई अच्छा रास्ता खोजने की, आवश्यकता है।

मेरी राय में आम चुनाव होने के बाद फिर आगे के काम एकमत से ही होने चाहिए, क्योंकि आम चुनाव में आदर्श, नीति-संबंधी फैसले हो जाते हैं। चाहे हम भारत-राष्ट्र को लें, कांग्रेस या समाजवादी अथवा जनसंघ-जैसे राजनीतिक संगठनों को लें, या धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक संस्थाओं को लें, इनका एक संविधान होता है, जिसमें उनके उद्देश्य, आदर्श, नीति निश्चित रहते हैं। उनको मानकर ही कोई उनका अंग या सदस्य बनकर रह सकता है। जब एक बार कोई व्यक्ति किसी राष्ट्र का नागरिक या किसी संगठन अथवा संस्था का सदस्य बन गया तो फिर उद्देश्य, आदर्श, नीति-संबंधी विवाद या विरोध तो खतम हो गया।

मैं भारत का नागरिक हूं, आप जापान या रूस के हैं तो आप हम वहां के संविधान को मानकर ही चलेंगे, उसकी सीमा के अंदर ही रहेंगे। यदि संविधान मंजूर नहीं है तो हम उस राष्ट्र में नागरिक के तौर पर नहीं रह सकते, विदेशी के तौर पर रह सकते हैं। उस दशा में भी विदेशियों के लिए बने नियमों के अधीन रहना पड़ेगा। हम कहीं भी बिल्कुल स्वतंत्र—संविधान, नियम से परे—नहीं रह सकते। इसी तरह कांग्रेस जैसे संगठन या हरिजन सेवक-संघ जैसी संस्था के सदस्य भी उनके विधान, नियम, अनुशासन से बंधे रहेंगे। किसी भी प्रश्न का निर्णय करने से पहले सब सदस्यों को अपने

विचार पूर्ण स्वतंत्रता से व्यक्त करने की सुविधा होनी चाहिए। यह तो ठीक। इनसे प्रस्तुत प्रश्न पर हर पहलू से रोशनी पड़ जाती है, जिससे सही निर्णय करने में मदद मिलती है। अब सब तरह से युक्ति तथा आकड़े, विभिन्न दृष्टि-बिंदु आदि सामने आ जाने पर, उनकी चर्चा कर लेने पर, फिर फैसला करने के लिए मत लेने या बहुमत से फैसला करने की आवश्यकता क्यो होनी चाहिए ? सब दृष्टि-बिंदुओ से विचार करने के उपरात फैसला होना चाहिए, या उपस्थित सज्जनो के मत गिनकर फैसला होना चाहिए ? सही प्रजातांत्रिक तरीका क्या है ? निर्णय जहांतक बन सके सही हो या इसकी परवा किये बगैर, उपस्थित व्यक्तियो की राय से होना चाहिए, भले ही वह गलत हो ?

जनतंत्र का मतलब क्या यह है कि महज लोगो की राय से अर्थात् उनके मत गिनकर फैसला हो, भले ही दरअसल वह गलत हो ? यदि ऐसा है तो फिर जनतंत्र के इस रूप या प्रणाली पर गभीरता से सोचने की जरूरत है। यह हमारे समाज और राष्ट्र के मूल पर ही कुठाराघात करनेवाली बात है। यदि आप सही बात पर जोर नही देते है और महज मत गिनने पर आधार रखते है तो इससे बढकर अनर्थकारी बात अपने समाज, राष्ट्र, शासन के लिए आप और क्या कर सकते है ? इसमे न आपकी नीति रहेगी, न सदाचार, न सज्जनता, न आपस का स्नेह-सद्भाव। वे सब मानुषी गुण लोप होगे और महज 'कन्वेसिग' 'गुटबंदी'—जो स्वार्थ-सिद्धि के बल पर की गई होगी—भय, दबाव आदि का बोलबाला होगा। दूसरे शब्दो में, मूल प्रजातांत्रिक भावना का ही गला घुट जायगा—आज भी घुटने लगा है।

अत: हमारी राय में नित्य कार्य के लिए सब फैसले एकमत से होने चाहिए। मत गिनकर और एकमत न हो सकने की अवस्था मे बहुमत से फैसला करने की प्रथा बंद हो जानी चाहिए। वह कैसे हो ?

मेरा सुझाव यह है कि अच्छी तरह, मुक्त-निर्बाध विचार-चर्चा होने के बाद मत लेने या गिनने के बजाय हमारे विधान या नियमो मे ही यह गुंजाइश होनी चाहिए कि फिर भी उस प्रश्न का फैसला उस सभा या समिति का

अध्यक्ष करे। सब व्यक्तियो, पक्षो के विचार सुनने के बाद, गुण-दोष-विवेचन के बाद, अध्यक्ष इस स्थिति में आ जायगा कि सही फैसला कर सके। उसका फैसला सभा या समिति को मान्य होना चाहिए—ऐसी धारा ही विधान या नियमावली में डाल देनी चाहिए। यह पूर्ण जनतान्त्रिक व्यवस्था होगी।

अब आप कहेगे—अध्यक्ष गलत निर्णय कर सकता है, उसने ऐसा निर्णय कर दिया, जिसे बहुमत से मनवाना मुश्किल हो, तो फिर क्या होगा ? यह शका या कठिनाई सही है। इसका इलाज यह है—अध्यक्ष फैसला तो कर दे, किंतु एक महीने तक उसपर अमल न हो। फैसला जाहिर होते ही उसपर आमतौर पर अखबारो में, सभाओ में आलोचना करने की, गुण-दोष दिखाने की, छूट लोगो को रहे। अलबत्ते उसमे व्यक्तिगत हमला करने की स्वतत्रता न रहेगी। फैसले के बारे मे खुलकर नुक्ताचीनी की की जाय। इससे अध्यक्ष को मौका मिलेगा अपने फैसले पर फिर विचार करने का तथा लोकमत को जानने का। फैसले का सही होना जैसा जरूरी है, वैसा ही यह देखना भी जरूरी है कि लोग आज इस पर अमल करने के लिए कहातक तैयार है, क्योकि जनतत्र में शासन या व्यवस्था लोक-सहयोग के बल पर ही चल सकती है। अत यह सुविधा जन-साधारण और जनता को मिलनी चाहिए कि वे इस फैसले पर रायजनी या नुक्तचीनी कर सकें। उसके प्रकाश में फिर अपने फैसले पर पुनर्विचार करने की गुजाइश अध्यक्ष के लिए रहने दी जाय। वह खुद ही, दुबारा बैठक बुलाकर, चाहे तो फैसले को बदल दे।

इससे लाभ यह होगा कि सब सदस्यो की तथा अध्यक्ष की प्रवृत्ति यह होगी कि फैसला सही हो। आज यह प्रवृत्ति क्षीण होती जा रही है। जिन्होने किसी तरह अपना बहुमत बना लिया है, वे इस बात की परवा कम करते है कि फैसला सही हो, क्योकि बहुमत के बल पर हरचीज को चला ले जाने का आत्म-विश्वास उन्हे रहता है। अत अल्पमत उपेक्षित या निरादृत रहता है और उसमे स्वेच्छापूर्ण सहयोग की वृत्ति उत्पन्न करना प्राय. असभव

हो गया है। विचार, निर्णय सही हो, निर्णय के बाद उसमे सब सहयोग दे—यह भावना ही नही रह जाती, अपनी-अपनी बात दूसरों पर ठूसने और लादने की प्रवृत्ति रहती है, किस तरह हमारा बहुमत हो, यही धुन रहती है। इस अनर्थ से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि निर्णय अध्यक्ष पर छोड दिया जाय, उसे उसपर पुर्नविचार की छूट रहे या फिर ऊपर की वरिष्ठ समिति मे उसकी अपील का अवसर रहे, जिससे नीचे कोई गलती हुई हो तो वह ऊपर ठीक कर ली जाय। इससे बहुमत-अल्पमत का चक्कर मिट जाता है और अल्पमत को यह शिकायत करने का अवसर नही रहेगा कि बहुमत हमपर जुल्म करता है और बहुमत को भी तानाशाही प्रवृत्ति की ओर बढ़ने का अवसर न रहेगा।

अब रह जाता है प्रश्न चुनाव-पद्धति का—प्रत्यक्ष मतदान-प्रणाली का। इसमे और बातें तो इतनी हानिकर या भयानक नही है, जितनी हमारी गुप्त मतदान-प्रणाली, या वर्तमान प्रचार-प्रणाली। गुप्त मतदान-प्रणाली इसलिए शुरू हो गई और अच्छी समझी गई कि मतदाता निर्भय होकर जिसको चाहे मत दे सकें, कोई उसे दबा न सके। परंतु इसका अवसर हम उलटा दे रहे है। थोडे-से लोग भले ही दबाव से बच जाते हो या निर्भय होकर मत देते हो—अधिकाश तो इस प्रणाली से झूठ बोलने और धोखा देने की आदत सीखते है। मतदाता हर उम्मीदवार को आशा बधाता है, आश्वासन देता है, कसम भी खा जाता है और अंत तक पता नही चल पाता कि वास्तव में मत किसको देगा। क्या यह स्थिति वांछनीय और समाज को आगे ले जानेवाली है? उम्मीदवार खुद भी मतदाता को सिखाता है कि भले ही तुम टिकट दूसरी पार्टी वालो से ले लो, उन्हीके साथ मत देने जाओ भी, पर चुपके से मत हमे दे देना, और कई बार विश्वास भी रखते है कि यह मतदाता उन्हे धोखा देगा, हमे नही। इस तरह उम्मीदवार और मतदाता दोनो झूठ बोलना और धोखा देने की आदत सीखते-सिखाते है।

आजकल चुनाव भोजन-स्नान की तरह हमारे जीवन का नित्यधर्म हो गया है। हर संस्था मे, हर समिति मे, हर देश और राष्ट्र में, नीचे से लेकर

ऊपर तक नित्य कई प्रकार के चुनाव होते हैं और उनमें यही गुप्तदान-पद्धति चलने से झूठ और धोखेबाजी की शिक्षा हमारे करोड़ो मतदाता रोज पाते हैं। अब बताइये, आप अपने बच्चो और नागरिको को सचाई, ईमानदारी की शिक्षा कैसे दे सकते है और उनसे सच्चे तथा ईमानदार बने रहने की उम्मीद कैसे रख सकते हैं ?

इसके लिए सभी भले नागरिको को जोर की आवाज़ बुलंद करनी चाहिए। हमारे राष्ट्र को ऐसी झूठ और धोखेबाजी की शिक्षा निरंतर मिलती रही तो फिर हमारा भगवान ही मालिक है। अणु तथा उद्जन बम से हमारे राष्ट्र को इतना भय नही है, जितनी इस राक्षस से हमारे जीवन की नित्य हानि हो रही है। हमारी नैतिकता की जड ही कट रही है।

फिर इस गुप्तमत-प्रणाली से मतदाता में निर्भयता कभी नही आ सकती। वह दब्बू और बुजदिल ही बना रहता है और बना रहेगा, क्योकि खुलकर किसीका विरोध करने, यह कहने की कि मै अपना मत आपको नही, फला को दूगा, उनमें हिम्मत कभी आ ही नही सकती और यदि ऐसी निर्भयता या हिम्मत हमारे नागरिको मे हम नही ला पाये तो इसे हम क्या प्रजातंत्र की सफलता और सार्थकता कहेगे ? क्या ऐसे नागरिक हमारे राष्ट्र के सम्मान, गौरव, प्रतिष्ठा को बढा सकते है ? क्या इनके भरोसे समाजवादी या सर्वोदयी समाज स्थापित करने की आशा की जा सकती है ?

अब प्रचार-प्रणाली को लीजिये। वैसे, जब पार्टिया चुनाव लडती हैं तब पार्टी का घोषणा-पत्र चुनाव की जान होता है। उसीके आधार पर मतदाताओ से सब पार्टियो के लोग अपील करते हैं। जो स्वतत्र उम्मीदवार होते हैं,उनका स्थान आजकल की पार्टी-पद्धति में बहुत कम होता है। जहा-तक विचार-प्रदर्शित करने का सवाल है, पार्टी-पद्धति बुरी नही है, एक तरह की सहूलियत उससे होती है, परतु जहातक पार्टी के आधार पर मत देने का सवाल है, कई बार ऐसे अवसर आते है, जहा सदस्य या सदस्यो को महज पार्टी की खातिर, अपनी भीतरी मशा के खिलाफ, पार्टी के साथ मतदान करना पडता है। इस दोष से जनतत्र को बचाना आवश्यक है।

इसका उपाय तो हम ऊपर बता ही चुके हैं। यहा तो हमे प्रचार-प्रणाली पर खास तौर से विचार करना है।

हा, तो जब पार्टिया चुनाव लड़ती हैं तब पार्टी के सिद्धांत, आदर्श, योजना, कार्यक्रम मुख्य हो जाता है, उसकी तरफ के भिन्न-भिन्न उम्मीदवार नही। उम्मीदवार अच्छे, प्रभावशाली, नेक, शरीफ है, तो पार्टी के लिए अच्छा है, पार्टी की शोहरत उससे बढ़ेगी; परंतु प्रतिपक्षी के सामने उम्मीद-वार व्यक्ति नही है, बल्कि पार्टी है। अतः यदि हम एक-दूसरे की पार्टी के खिलाफ, उसके उसूल, कार्यक्रम, रवैया आदि के खिलाफ, कुछ कहे तो इसमे कोई आपत्ति नही, परंतु हम अक्सर उम्मीदवार व्यक्ति पर हमला कर बैठते है, उसके सारे जीवन और चरित्र पर दोषारोपण करते हैं, तमाम गंदे हथकंडे काम में लाते है। यह सब प्रजातंत्र की आत्मा के विरुद्ध है, और कतई बंद होना चाहिए। यदि व्यक्ति खराब है तो उसकी चर्चा पार्टी मे, संबंधित समिति मे, अवश्य होनी चाहिए। दोष की छानबीन होनी चाहिए, दोष साबित होने की अवस्था में उचित कारंवाई भी होनी चाहिए, परंतु उठते ही आम लोगो में भद्दा और गदा प्रचार शुरू कर दिया जाता है, यह बिल-कुल अनुचित है, फिर चाहे यह प्रचार किसी विरोधी दल के व्यक्ति के विषय में हो, या अपने ही दल के व्यक्ति के संबंध में।

हमारी भारतीय सभ्यता ने तो हमें सिखाया है कि अपने अवगुण और दूसरों के गुण देखो और उनकी चर्चा करो। तुलसीदासजी ने तो यहातक कहा है—"पिशुन पराय पाप कहि देही"। पर-निंदा को हमारे यहा पाप माना गया है। परंतु पश्चिमी प्रजातंत्र हमे सिखाता है कि यह प्रचार करना कि हम अच्छे, तुम बुरे; हम भले हैं हमे वोट दो, ये बुरे है निकम्मे हैं, इन्हे वोट मत दो। इसका नतीजा यह हो रहा है कि दोनो तरफ से अवगुण-चर्चा ही जोर पर रहती है। हमें अपनी गलती देखने, उसे दूर करने की प्रवृत्ति ही नही होती, मौका ही नही मिलता। दोनो ओर यही घाटे का, बुराई का सौदा होता है और भलाई के बजाय बुराई ही दोनो के और लोगो के भी पल्ले पड़ती है। इसपर भी रोक लगने की जरूरत है।

यह किसी एक पार्टी या संगठन के सोचने का प्रश्न नहीं है, सभीको सोचना चाहिए। और कोई सोचे या न सोचे, कांग्रेस को तो सोचना जरूरी है, क्योंकि आज भारत में वह सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावकारक संगठन है।

एक सुझाव अप्रत्यक्ष चुनाव करने का आ रहा है। यों वह ठीक है, परन्तु यह पलायन-वृत्ति हुई। प्रत्यक्ष चुनावों के लिए मतदाताओं का काफी शिक्षित और जिम्मेदार होना जरूरी है। उनमें इतनी क्षमता हो सके कि वे चुनाव के प्रश्न का मर्म और महत्व समझ लें; उनमें अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान, उम्मीदवार को परखने की क्षमता, और बड़े-से-बड़े आदमी को भी 'ना' कहने की हिम्मत हो। मतदाता की ऐसी स्थिति बनाने का प्रयत्न करना हमारा सच्चा काम है। परंतु इसमें समय लगेगा। अतः तबतक के लिए यदि अप्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली स्वीकृत हो जाय तो बुरा नहीं है। उसके चुनाव-संबंधी बहुत-सी वर्तमान गंदगियों और बुराइयों से बचत होने की आशा की जा सकती है।

: १४ :

चुनाव : युद्ध नहीं, पर्व

प्रजातंत्र में आम चुनाव एक पर्व है। प्राचीन परिपाटी में पर्वों पर मेले होते हैं—वे पुण्य तीर्थों में होते हैं जहां लाखों भावुक यात्री आते और अपनी समझ तथा श्रद्धा के अनुसार पाप क्षय करके एवं पुण्य संचय करके जाते हैं। यही पर्व का माहात्म्य है। प्रजातंत्र को हम तभी सफल बना सकेंगे जब चुनाव को हम पर्व की महत्ता प्रदान करेंगे। आज तो चुनाव एक धक्का-पेल हो रहा है, जिसमें हम दूसरों को धक्का देकर आगे बढ़ना चाहते हैं। औरंगजेब ने हुकूमत के लिए अपने बाप को कैद में डाला था। नारायणराव पेशवा का खून उसके चचा बाजीराव पेशवा ने राजगद्दी के लिए

कराया था। आज हम चुनाव में आने के लिए--टिकट पाने के लिए, अपने साथी, मित्र, सहयोगी, भाई, पति, पत्नी, बाप, बेटे, नेता, अनुयायी सबके पारस्परिक रिश्ते, स्नेह-संबंध, ममत्व को ताक पर रखकर, उनकी बुराइयों को बताकर, अपनी सेवाओ और योग्यताओ का गुण गा-गाकर, उन्हे पीछे धकेलने और खुद आगे बढ़ने का जो उपक्रम देखते है, वह पूर्वोक्त मुगल और पेशवा बादशाहो और राजाओ से किसी कदर कम नही है। औरंगजेब और बाजीराव ने जो गर्हित साधन अपनाये थे, उनसे ज्यादा गर्हित साधन क्या हम नही अपना रहे है ? जवाहरलालजी ने जिस 'कोल्ड वार' (शीतयुद्ध) की भर्त्सना अनेक बार की है, क्या उससे कम दम-घोटू यह सिलसिला नही है ? अतः यदि भारत को चुनाव-युद्ध के इस रावण से बचाना है तो चुनाव को युद्ध (चाहे वह उष्ण हो या शीत) कहने और मानने के बदले उसे एक पर्व, तीर्थ, गंगा-स्नान का पद देना चाहिए, देना होगा और मेरी समझ मे तो सचमुच वह एक तीर्थ या पर्व ही है।

यह कैसे हो ? इसका रास्ता हमें जवाहरलालजी ने दिखाया है। यह चुनाव मतो की लडाई का साधन नही, लोगो को शिक्षित करने का साधन है। अर्थात् यह युद्धक्षेत्र नही, ज्ञान-सत्र, ज्ञान-यज्ञ है। इसमे सब पक्षो के, सब विचारो के, लोग मतो की भीख मागने, या मतो की लडाई लड़ने की अपेक्षा, जनता को शिक्षित करने, अपने-अपने विचार, योजना, कार्यक्रम की विशेषता और खूबिया बताने का यत्न करें तो उन्हे तरह-तरह की ज्ञान-सामग्री मिलेगी, जिसमें उनकी बुद्धि को काफी खुराक मिलेगी। इसके बाद वे अपना फैसला करके जिसे ठीक समझेंगे, उसे वोट दे देंगे। यह स्वेच्छा-पूर्वक, ज्ञानपूर्वक, वोट लेने का तरीका हुआ। एक-दूसरे को बुरा कहकर, गाली-गलौज करके, रिश्वते देकर, या और तिकडमे करके जो हम वोट लेते है वह तो 'युद्ध' की गिनती या श्रेणी में आता है--वह भी धर्म-युद्ध नही। परन्तु जो इस प्रकार विचार और ज्ञान-प्रचार के द्वारा मत प्राप्त किया जायगा, वह एक ज्ञान-यज्ञ ही कहा जायगा। और जिस मेले में ऐसा ज्ञान-यज्ञ हो, जिस दिन, सप्ताह या पक्ष मे वोट लेने का ऐसा मेला लगता हो,

उसे पर्व नही तो क्या कहा जाय ?

अत मुझसे यदि आप चुनाव के विषय में पूछें तो मैं कहूंगा कि चुनाव युद्ध नही, तीर्थ है, पर्व है। यह पानीपत नही, कुरुक्षेत्र नही, यह प्रयाग है—त्रिवेणी है, सगम है, सिहस्थ है, कुभ है।

इसे दूसरी तरह से—आध्यात्मिक भाषा में यो कह सकते है, यह आत्मज्ञान से ब्रह्मज्ञान की ओर प्रयाण है। काग्रेस का लक्ष्य है—समाज-सत्ता-प्रधान राष्ट्र बनाना। अर्थात् हम अपना व्यक्तिगत भाव मिटाकर समाज-भाव का विकास करें, उसे अपनावे। एक व्यक्ति का ऊचा उठना आत्मज्ञान है। व्यक्ति जब यह मानने लगता है कि मैं शरीर नही, आत्मा हूं, अमर हूं, जड नही, चेतन हू—यह आत्मज्ञान है। इसमे व्यक्ति जडसे उठकर चेतन बन गया। जमीन की सतह से उठकर हिमालय से भी ऊचा चला गया। परन्तु रहा एक व्यक्ति ही। जड़-चेतनमय था, अब चेतन रह गया, जड मिट गया। इस व्यक्ति को हम आत्मज्ञानी कहेगे। परतु यह व्यक्ति जब यह सोचने या मानने लगता है कि जो चेतन-सत्ता मुझमें है, वही सारे जगत् में है, वस्तु-मात्र में है, तो वह ब्रह्मज्ञान हुआ। ब्रह्मभाव की ओर उसका प्रयाण हुआ। जो चेतन सत्ता एक व्यक्ति मे समाविष्ट, रुद्ध या बद्ध है, उसे आत्मा कहते है, जो सत्ता सर्वत्र व्याप्त है, उसे हम ब्रह्म कहते हैं। आत्मा का व्यापक भाव ब्रह्म है। इस आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान को मिलाने से मानव की सपूर्णता होती है—इसीको बस सिद्धि, मोक्ष, परमपद, कैवल्य आदि कहते है। तो हमारी काग्रेस ने अब आत्मज्ञान से आगे बढकर ब्रह्मज्ञान या आत्म-भाव से ऊचा उठकर ब्रह्मभाव की ओर प्रयाण करना आरभ किया है। और यह चुनाव उसमें उसका एक जबर्दस्त साधन है, और हो सकता है।

अबतक हमारे देश मे कुछ सत, महात्मा, ऋषि, मुनि ज्ञानी होते थे। वे एक जगह रहते थे। लोग उसके पास जाकर ज्ञान, धर्म, कल्याण पाते थे। वे स्वय तो आत्मनिष्ठ होते थे, दर्शनार्थी उनसे लाभान्वित भी होते थे। परतु वे आत्मनिष्ठ नही बनते थे। उन सबका कल्याण करने की जितनी उनकी भावना थी, उतना उन्हे आत्मनिष्ठ बनाने की क्रिया नही

होती थी। प्रत्येक दर्शनार्थी, समाज का प्रत्येक व्यक्ति, नागरिक, आत्म-निष्ठ हो—उसके जीवन का स्तर इतना ऊंचा उठे—ऐसी योजना, कार्यक्रम, व्यवस्था नही थी। इस कमी की ओर पहली वार शायद वुद्ध का ध्यान गया। उन्होने एक स्थान पर रहकर भ्रमण, यात्रा, विहार द्वारा अपने ज्ञान, सिद्धि, प्राप्ति को जनता तक पहुंचाने, जनता को ऊचा उठाने का उपक्रम किया। वह कितना चला, कितना सफल हुआ यह वात दूसरी है। परंतु उनके प्रयाण की दिशा सही थी। अव २५०० वर्ष वाद हमे वुद्ध की याद आई, क्योकि वुद्ध व्यक्तिवादी नही, समाजवादी थे। उन्होने व्यक्ति को समाज के अर्पित होने का मार्ग वताया—उसको प्रेरणा दी, उसका उद्योग किया। वे जनता के पास गये। आज भी हमें यही करना है। हमारे पास जो कुछ है वह जनता तक पहुंचाना है। हम एक जगह वैठकर सारी जनता को अपने पास नही वुला सकते, हम घर-घर जा सकते हैं। जनता का हम तक पहुंचना वहुत मुश्किल है, हमारा जनता तक पहुंचना आसान है। यह चुनाव हमें जनता तक पहुंचने, उसे शिक्षित करने का अवसर देता है—प्रजातंत्र की पहली आवश्यकता है जनता को, प्रत्येक मतदाता को शिक्षित करना। कांग्रेस का घोषणा-पत्र हमें इसका अवसर देता है। व्यक्ति को समाज के पास पहुंचना है, समाज के अर्पित होना है, आत्मा से ब्रह्म तक पहुंचना है।

२. आदर्श

: १ :
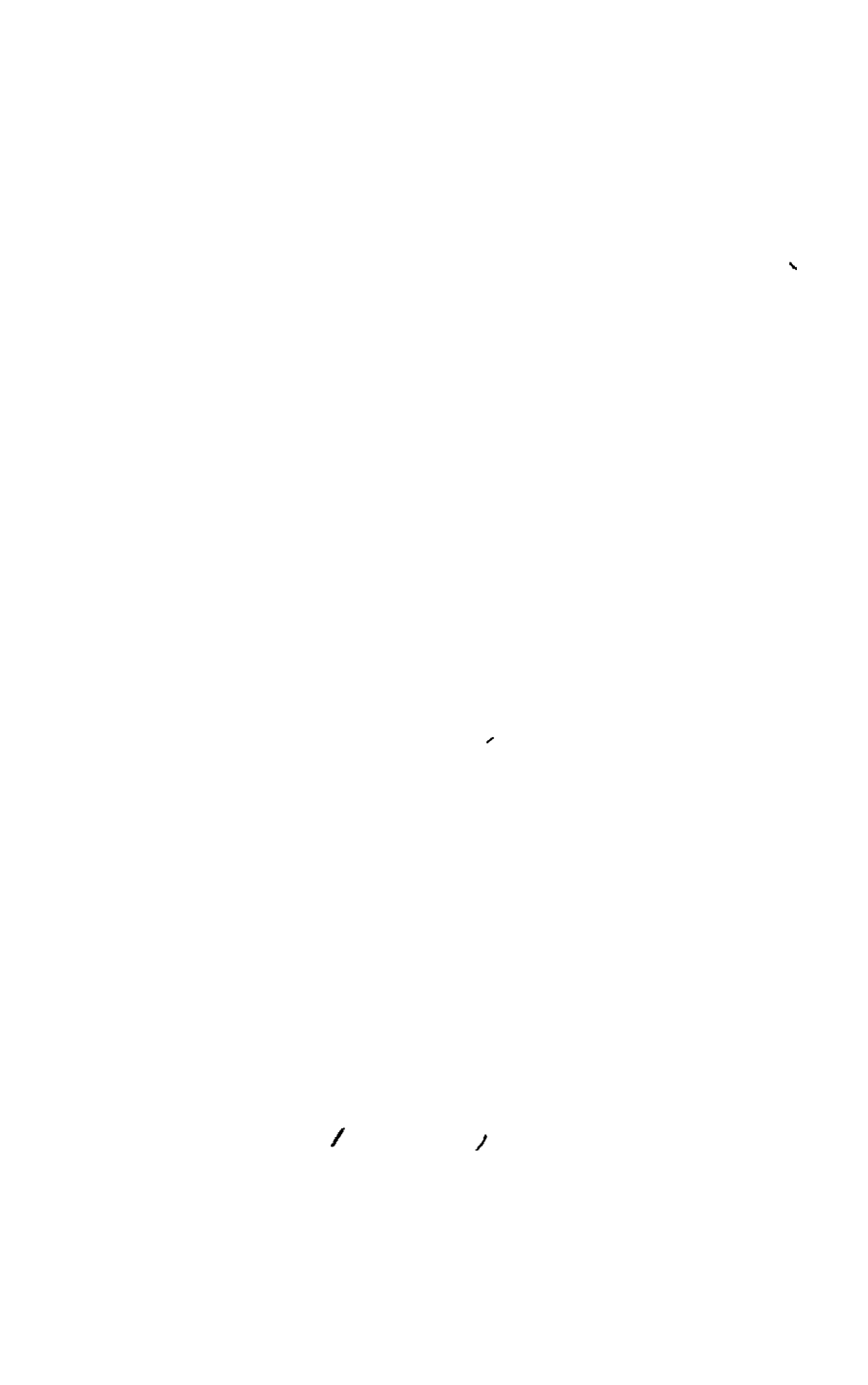
आदर्श विजय

प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र का उत्थान और पतन उसके आदर्श के अनुसार होता है। आदर्श ही व्यक्ति या राष्ट्र का नेता है। उसी व्यक्ति को राष्ट्र अपना नेता मानता है जो स्वय आदर्श का भक्त हो, जो स्वयं आदर्श रूप हो। आदर्श अंतिम गतव्य स्थान है—व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय जीवन-रूपी रेलगाडी का आखिरी स्टेशन है। दरमियानी स्टेशनो की तरह आदर्श की यात्रा मे भी अनेक मजिले है, परतु रेल के स्टेशन के विपरीत, ज्यो-ज्यो हम उसके नजदीक पहुंचने का प्रयत्न करते है त्यो-त्यो वह आगे बढता जाता है। इसी कारण कुछ लोग उसे पाना असंभव समझकर छोड देते है और निराश होकर अपने पिछले मुकाम पर लौट आते है। जीवन के आरभ से लेकर आदर्श तक पहुंचने की यात्रा को ही व्यवहार या अमल कहते हैं। व्यवहार आदर्श का साधन है, पोषक है। व्यवहार आदर्श के लिए है, आदर्श व्यवहार के लिए नही है। रेलगाडी हमें अपने अभीष्ट स्थान तक पहुचाने के लिए है। स्टेशन-हीन रेलगाडी की जो दुर्दशा हो सकती है, वही आदर्शहीन व्यक्ति या राष्ट्र की होती है। जो लोग आदर्श का उपहास करके केवल व्यवहार को ही सब-कुछ मानते है वे मानो प्राणो की अवहेलना करके शरीर को ही उसका राजा मानने की मूर्खता करते है।

आदर्श भगवान् भास्कर की तरह केवल दूर से पूजा करने योग्य वस्तु नही है। आदर्श तो हृदय मे धारण करने की, आलिगन करने की चीज है। जो लोग आदर्श का गुणगान तो करते है, पर उसके नजदीक पहुंचने का प्रयत्न नही करते वे या तो कमजोर है या धोखेबाज़। कमजोर आगे बढ नही सकता और धोखेबाज का पतन हुए विना नही रह सकता।

यो तो प्राणि-मात्र का आदर्श निश्चित है—मुक्ति, पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्ण

विकास, परंतु प्राय: प्रत्येक समाज और राष्ट्र के लोगों ने अपने अनुभव, चिंतन, स्वभाव, आवश्यकता, जलवायु आदि के अनुसार अपना भिन्न-भिन्न आदर्श मान लिया है। ये भिन्न-भिन्न आदर्श वास्तव मे अंतिम आदर्श की दरमियानी मंजिले हैं। परंतु बहुतेरे राष्ट्र इस बात को भूल-से गये हैं। पूर्व और पश्चिम के जीवन मे यदि कोई खास अंतर है तो यही आदर्श का। पश्चिमी लोगो ने भौतिक विकास को ही, शारीरिक सुख को ही, अपना आदर्श मान रखा है। और पूर्वी लोग आत्मविकास, आत्मिक सुख को अपना आदर्श मानते हैं। वे भौतिक विकास को आत्म-विकास का साधना---दरमियानी स्टेशन मानते हैं। एक शराब पीना अपना आदर्श मानता है और दूसरा रोग दूर करने को अपना आदर्श मानकर दवा के तौर पर उसका सेवन करता है। यही अंतर पूर्व और पश्चिम के आदर्शो मे है। आदर्श मानकर शराब पीनेवाला जिंदगी भर गटरो और सडको पर धूल चाटता फिरेगा और दवा के तौर पर पीनेवाला अपने रोग को दूर करके स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा।

पश्चिमी लोगो की पूर्व पर विजय होने के कारण उनके भौतिक आदर्शों का सिक्का पूर्व के पराजित राष्ट्रो पर जमता गया। विजित भारत यदि दासोचित अनुकरण-प्रथा का शिकार हो गया तो एक तरह से यह क्षम्य था। महात्मा गांधी के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करने के पहले तक भारत का राजनैतिक जीवन पश्चिम का अनुयायी हो रहा था। उनके संदेश ने यदि भारत मे कोई महान् कार्य किया है तो यही कि भारतीय राजनीति ने पश्चिमी शराब के पीपे से निकलकर पूर्वी क्षीर-सागर में प्रवेश कर लिया। भारतीय आदर्श की दिशा में उसका कदम आगे बढ रहा है। कुटिल नीति की लडाई को छोडकर उसने शांतिमय-सत्याग्रह को अपने उद्धार का एक-मात्र साधन मान लिया है। कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के द्वारा राष्ट्र ने पहली बार शांतिमय असहयोग के सिद्धांत और कार्यक्रम पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाई थी, फिर नागपुर और अहमदाबाद में उसने अधिकाधिक दृढता से उसे अपने सिर चढाया। महात्माजी के कारावास के बाद

फिर पश्चिमी तत्वों ने, विदेशी मनोवृत्तियों ने, जोर मारा, पर अंत को गया-तीर्थ में राष्ट्र ने फिर अपने आदर्श की रक्षा कर ली। गया कांग्रेस में महात्माजी के सिद्धांत और कार्यक्रम की जो विजय हुई, उसके बाद जो देश-व्यापी सत्याग्रह युद्ध का बड़ा प्रयोग अबतक हुआ और जिसमें बड़ी सिद्धि मिली, हम स्वतंत्र हुए, यह समझने की एक चीज है। वह किसी व्यक्ति-विशेष की जीत या हार नहीं, वह तो आदर्श की व्यवहार पर, भावना की शुष्क तर्क पर, प्रेम की क्रोध पर, सत्याग्रह-भावना की विरोध पर, क्रांति की वैध-वृत्ति पर और पूर्व की पश्चिम पर विजय है। वह आदर्श की विजय है।

इसमे खूबी यह है कि विजेता और पराजित दल दोनों को अपनी हार-जीत मानने का अवसर नही मिलता। विजेता गर्व से उद्धत नहीं हो सकते। कृतार्थता की भावना उन्हें अकर्मण्य नही बना सकती। वीर तो विजय पाने पर अधिक विनयशील और अधिक क्षमाशील हो जाता है। परन्तु असतुष्ट और उग्र भाई क्रोध और निराशा से पैदा होनेवाली प्रतिहिंसा का रंग अपने पर न चढने दें। हम न भूले कि भारत में नवीन युग का श्रीगणेश हो गया है। हमारे पुरातन आदर्श का नवविकास आरंभ हो गया है। इस विकास-प्रवाह को रोकने में संसार की कोई शक्ति अब समर्थ नही हो सकती। जिन तत्वों और शक्तियों को लेकर इस आदर्श की विजय हुई है, वे भी अपनेको गलत मूल्यों के भुलावे में आने से बचावें। हम न भूले कि यह जीवन रण-भूमि है। धर्म और अधर्म का, पाप और पुण्य का, ईश्वर और शैतान का, संग्राम इसमें निरतर होता रहता है। हमारा राजनीतिक संग्राम, हमारा स्वराज्य-युद्ध, इसी आन्तरिक रण का एक स्थूल रूप था। संग्राम जीवन का धर्म है। संग्राम के बिना जीवन नीरस है, निस्तेज है। सजीव आत्मा, वीर-आत्मा, जीवन की कठिनाइयों की ललकार पर अधिक जीवन पाती है, अधिक स्फुरण पाती है। ईश्वर को यह निश्चय करा दो कि उनका काम आपके हाथों सुरक्षित है। भारत का यह विश्वास न डिगने पावे कि उनके आदर्श को आपने पहचान लिया, आप उसपर मुग्ध हो चुके हैं—उसपर अपनेको न्योछावर करने के लिए आप सर्वदा तत्पर हैं।

: २ :

हिंसा और अहिंसा

कितनी ही बातें ऐसी है जिनका संबंध हृदय के विकास से, अथवा मन की वृत्तियो के सुसंस्कारों से जितना है उतना बुद्धि-वैभव से नही। जैसे सत्य, अहिंसा अथवा प्रेम ये बातें ऐसी है, जिन्हे दलील या बुद्धि के चमत्कार के द्वारा कोई किसीको अच्छी तरह नही समझा सकता। जिन्होने इनको अपने जीवन का धर्म बना लिया है, जो इनके अनुसार जीने का प्रयत्न करते है, उनको बिना दलील के ही इनके लाभो का आनद और सुख मिलता रहता है और ऊपर-ऊपर देखने से जो हानि या महा-संकट मालूम होता है उससे वे विचलित नही होते। यदि शक्कर की मिठास कोई किसीको समझाने लगे तो यह जिस प्रकार कठिन है उसी प्रकार उससे बढ़कर कठिन है सत्य, प्रेम या अहिंसा के मर्म और स्वाद को समझा देना। फिर जैसे-जैसे मनुष्य की गति इनमें होती जाती है और वह जैसे-जैसे इनके अनुभव मे आगे बढ़ता जाता है, तैसे-तैसे इनके रूप के सबध में उसकी धारणाएं अधिक व्यापक, सूक्ष्म और गहरी होती चली जाती है और उन तमाम अवस्थाओ को पाठकों के सामने खोलकर रख देना मनुष्य की वाणी और लेखनी की मर्यादा और शक्ति के बाहर हो जाता है। फिर भी बुद्धि-प्रधान मनुष्य तो उन्हे बुद्धि के ही द्वारा समझने की चेष्टा करता है और समझानेवाला भी उन्हे अपनी बुद्धि के अनुसार समझा सकता है। वह यदि इसमे पूर्ण सफल नही होता है तो यह सत्य, अहिंसा या प्रेम का दोष नहीं है, उनके गुण, महत्ता या सौंदर्य की कमी नही है, बल्कि मनुष्य के अपने सामर्थ्य की मर्यादा का सूचक है।

सत्याग्रहाश्रम साबरमती मे एक रोग-पीडित महा व्याकुल गाय के बछड़े को जहर की पिचकारी लगाकर मार डालने के प्रश्न पर हिंसा-अहिंसा का भारी विवाद छिड गया था। इस सबंध मे महात्माजी ने अपने जो विचार प्रदर्शित किये थे उन्हे सुनकर कितने ही अहिंसावादी भी बड़े चक्कर मे पड़

गये थे, अहिंसा-संबंधी उनकी पुरानी धारणाओं को गहरा धक्का पहुंचा था और महात्माजी के फलितार्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आये थे। उस समय जो विवाद चला उसमें समझ लेने लायक बातें सिर्फ़ दो हैं—१. अहिंसा का मूल और वास्तविक स्वरूप क्या है, (२) प्राण-हरण का अहिंसा में स्थान है अथवा नहीं; है तो कितना और किन-किन अवस्थाओं में ?

मेरी समझ में अहिंसा की सीधी व्याख्या यह है—अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी मनुष्य या प्राणी को मन, वचन या कर्म से कष्ट न पहुंचाना। मनुष्यता और पशुता में, मानव-भाव और पशु-भाव में मैंने यही विभाजक रेखा, यही मर्यादा समझी है। अर्थात् मेरी दृष्टि में वह व्यक्ति उतना ही अधिक मनुष्य है, उसमें उतना ही अधिक मानव-भाव है जितना अधिक वह अपने लाभ और सुख के लिए दूसरों को कष्ट न पहुंचाता हो और वह उतना ही अधिक पशु है या उसमें उतना ही अधिक पशुभाव विद्यमान है जितना कि वह अपने लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता हो। इससे हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि अहिंसा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं :

(१) अपना या अपने समाज का स्वार्थ न हो, और

(२) किसी प्राणी के शरीर, मन या आत्मा को कष्ट न पहुंचता हो।

बछड़े को जहर देने में अहिंसा की इन दोनों शर्तों का पूरा-पूरा पालन हो जाता है। (१) उसके मारने में महात्माजी का या आश्रमवासियों का कोई स्वार्थ-भाव न था और (२) न केवल उसके शरीर या मन या आत्मा को कष्ट नहीं पहुचाया गया, बल्कि उसके कष्ट की वेदना और व्याकुलता का अन्त कर दिया, उलटा उसे सुख पहुचाया गया।

अब रहा यह प्रश्न कि आखिर यह प्राण-हरण तो हुआ ही। और आगे चलकर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण से बढ़कर कष्ट और हिंसा दूसरी क्या हो सकती है ? यहां हमको यह सोचना चाहिए कि अहिंसा के जिस मूल स्वरूप को मानकर हम चले हैं वह हमें कहां ले जाता है। क्षण-भर के लिए हम इस बात को भूल जायं कि आजतक हम अहिंसा के नाम पर किस चीज़

को मानते चले आये है। और उसके संबंध मे किस ग्रंथ मे क्या लिखा है। अहिंसा में मुख्य बात है कष्ट न पहुंचाने की। अब यदि प्राण रखने से कष्ट अधिक पहुंच रहा है और प्राण-नाश से कष्ट का अंत हो जाता है तो एक अहिंसक की अंतरात्मा ऐसे समय क्या कहेगी और उसे क्या करने की प्रेरणा करेगी? उत्तर स्पष्ट है—जिससे कष्ट का अंत हो वही करो। और यही महात्माजी ने किया था।

इसपर यह कहा गया है कि प्राण-हरण स्वयं ही एक महाकष्ट देने की क्रिया है, अतएव घोर हिंसा है। इसपर हमारा कहना यह है कि मृत्यु तो, जन्म की तरह, प्रकृति का सामान्य नियम है। हम, भारतवासियो ने खामखा उसे एक हौवा बना रखा है। हा, अपने या अपने समाज के लाभ के लिए जब किसीका प्राण-हरण या जीवन-नाश किया जाता है तब वह दोष अवश्य है और तब वह हिंसा जरूर है। पर यदि उस प्राणी के लाभ के लिए, उसकी पीड़ा दूर करने के लिए, प्राण-हरण किया हो तो वह अहिंसा है, यदि हमारे अपने लाभ के लिए किया गया हो तो वह हिंसा है। हिंसा और अहिंसा का निर्णय करते समय हमें सदा-सर्वदा यह बात अपने ध्यान मे रखनी चाहिए कि यह हम किसके स्वार्थ या लाभ के लिए कर रहे है।

यहा शंकाकार कहते है कि फिर तो अहिंसा मे कृति नही, भावना ही सब-कुछ रही। और जब भावना की ही शुद्धि का विचार है तब समाज को कष्ट पहुंचानेवाले पशुओ और आततायी मनुष्यो का वध करना क्योकर हिंसा कहा जा सकता है, जबकि भावना बिलकुल शुद्ध है और जबकि लोक-हित ही हमारा परम उद्देश्य है? इसका उत्तर यह है कि अहिंसा मे भावना की शुद्धि तो सर्वत्र अनिवार्य है और भावना-शुद्धि का अर्थ लोक-हित नही, बल्कि वध्य माने जानेवाले प्राणी को कष्ट न देने का भाव है। भाव-शुद्धि के साथ कृति भी अहिंसक होनी चाहिए। कृति की शुद्धता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि भाव की शुद्धता। मार डालने की क्रिया, आजतक की धारणा के अनुसार, शुद्धता की परिभाषा मे नही आ सकती। सो यदि आज-

कल की धारणा को ही निर्भ्रम और ठीक मान लें तो फिर यह कह सकते हैं कि सिर्फ ऐसे ही प्रसंगो पर कृति की अशुद्धता अपवाद मानी जा सकती है, क्योंकि अहिंसा के मूलस्वरूप के अनुसार वह हिंसा नहीं कही जा सकती। अब यह दूसरी बात है कि हिंसा के एक दोष होते हुए भी हमें, जबतक जिंदगी है, लाचार होकर कई तरह की हिंसा करनी पड़ती है, पर इसलिए हम उसे अहिंसा या निर्दोष नही कह सकते। हा, क्षम्य और अक्षम्य हिंसा, ये दो भाग तो किये जा सकते है, पर हिंसा अहिंसा में किसी प्रकार नही खप सकती।

इसी तरह समाज के लाभ के लिए यदि किसी पशु या मनुष्य का वध करना, या उसे कष्ट पहुंचाना अनिवार्य हो गया हो तो उसे हम क्षम्य कोटि की हिंसा गिन लें, यह तो शायद हो सकता है, पर उसे अहिंसा तो किसी तरह नही कह सकते। फिर सामाजिक दृष्टि से पशुवध से मनुष्य-वध ज्यादा भयकर और ज्यादा सदोष है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिमान और हृदयवान् है, इसलिए अनेक प्रकार के प्रभावो का असर उसपर हो सकता है और फलस्वरूप उसके सुधार की बहुत आशा रखी जा सकती है। अतएव अहिंसा में कोरी भावना-शुद्धि को अपने मतलब की बात समझकर यदि कोई भाई उससे समाज की रक्षा के लिए मनुष्यवध को जायज और अहिंसात्मक मानने और समझने लगे तो हमारी राय मे वह अपनी समझ के साथ अन्याय करेगा और आत्म-वचना के दोष से लिप्त होगा।

: ३ :

मनुष्यता और पशुता

मनुष्य विकास-मार्ग मे पशु से कई दर्जा आगे बढ़ चुका है। पशु मे भावना और तर्कशक्ति की बहुत थोडी ही झलक पाई जाती है। पशु मे प्रेम, रक्षा और दया के भाव है तो, परतु वे उनके आत्मजो तक, कुछ ही काल के

लिए मर्यादित है। वैसे तो एक कुत्ता अपने स्वामी की रक्षा में अपनी जान तक दे सकता है। मनुष्य और पशु में अंतर यह है कि मनुष्य उदाहरणो और अनुभवो की तौल एवं विवेक के द्वारा निश्चय करता है और पशु केवल स्वभाव और प्रकृत प्रेरणा (Instinct) के कारण वह काम करता है। मनुष्यो मे वुद्धि और हृदय के विवेक, सारासार-विचार, कर्त्तव्य-पालन वुद्धि, क्षमा, उदारता, दया, प्रेम, तितिक्षा, संयम, शाति आदि जिन-जिन गुणों का जितना विकास हुआ है उतना पशुओ मे नही। इसलिए पुरुप पशुओ से श्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के उन्ही भावो की वदौलत आज हम मनुष्य के यहा कुटुव, समाज, राज्य, व्यवस्था, संगठन, सहयोग आदि पाते है। मनुष्य चाहे कितना ही गिर जाय, वह पशु-कोटि में कदापि नही पहुच सकता। हा, यह सच है कि कभी-कभी कुछ-कुछ वातों में जैसे दुर्व्यसन, व्यभिचार, चोरी और हिंसा-काड मे मनुष्य पशु को भी शर्मिदा कर देता है। फिर भी वह पशु नही हो सकता, क्योकि उसमे भूलो से सबक सीखने की, पापो का प्रायश्चित करने की, अपनी आत्मा का सुधार करने की जो प्रवृत्ति या शक्ति होती है, वह पशु मे नही पाई जाती। इस अतर को न तो हम भुला सकते है, न इसके महत्व की उपेक्षा की जा सकती है। स्वराज्य-आदोलन मे इसी भेद को समझकर महात्माजी ने अहिंसा-वृत्ति का व्यापक प्रयोग किया था और इसी नीव पर उसकी विजय का दारोमदार था।

फिर भी कुछ लोग इस मत का प्रतिपादन करते जा रहे है कि अहिंसा मनुष्य के स्वभाव के विपरीत है। स्वयं कष्ट सहकर दूसरे के मनुष्यत्व को जाग्रत करना आत्मघात है। इस पद्धति से हम स्वयं अपनी हानि करते है और प्रतिपक्षी को अपनी सज्जनता से वेजा लाभ उठाने का मौका देते है। वे कहते है कि कष्ट-सहन और आत्म-वलिदान की इस विधि से सरकार अर्थात् प्रतिपक्षी पर कुछ भी दवाव नही पड़ता है। चतुराई और वुद्धि-मानी तो इस वात में है कि शत्रु का अधिक-से-अधिक नुकसान हो और हमारा कम-से-कम। शत्रु को और उसके सैनिको को कैद करना तो एक ओर रहा —यहा तो उलटे हमारे ही सैनिक और सेनापति सबसे पहले जेल

जा बैठते हैं और शत्रु तो अपने घर में उसी तरह सुरक्षित है। यह संसार के आजतक के अनुभव के खिलाफ है। इतना ही नही, देश से इतने कष्ट-सहन, आत्मोत्सर्ग की आशा और आग्रह करना कि जिससे विरोधी अपनी कुचाल छोडकर सीधी राह पर आ जाय, मनुष्य के स्वभाव-धर्म के विरुद्ध है। सरकार तो एक यत्र है। यत्र की कही आत्मा होती है? किसी सरकार से अपने पापो के प्रायश्चित्त या आत्मा के सुधार की आशा करना पक्की वेश्या से पतिव्रता होने की आशा करना है।

इन विचारो से कोई भी सत्याग्रही सहमत नही हो सकता। हां, ऐसे विचार रखनेवालो की शोचनीय अवस्था पर सहानुभूति अवश्य हो सकती है। इसमे पहली भूल जो लोग करते हैं यह है कि वे पशु और मनुष्य के पूर्वोक्त अंतर को भुला देते हैं। दूसरे, मनुष्य को पशु मानना अर्थात् पशु की तरह उसे आत्म-सुधार-शक्ति से ही हीन मानना, मनुष्य-जाति के प्रति अक्षम्य अपराध है। यदि हम स्वय अपनी भूलो का सुधार करते है, अपने पापो पर पश्चात्ताप करते हैं तो हम यह मान ही नही सकते कि संसार के किसी मनुष्य में यह शक्ति नही है—या नष्ट हो गई है। हा, एक समय ऐसा आता है जब पापी मनुष्य की यह शक्ति उस पाप के अमित बोझ से इतनी दब जाती है कि उसका रहना न रहना बराबर हो जाता है। पर वह अवस्था उसके अंत की ही अवस्था है। कोई जल्दी सभल जाते है, कोई देर से सभलता है। यह तो सस्कारो पर अवलबित है और जो नही सभलते है वे अपने आप नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति का सिद्ध नियम है।

यदि हमारे आत्मोत्सर्ग और कष्ट-सहन से विरोधी शक्तियो की मनुष्यता जाग्रत नही दिखाई देती तो हमें हताश होने या धीरज छोड़ देने की जरा भी जरूरत नही है। हमारे सत्याग्रह-आदोलन की नैतिक शक्ति ने ससार पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। सरकार चाहे एक कल-रूप हो, पर उसके विधाता मनुष्य ही है और विधाता अपनी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय, परिवर्तन सबकी शक्ति रखता है। यत्र से उसका विधाता हर हालत में श्रेष्ठ और उच्च होता है।

दूसरी भूल वे यह करते है कि वे शस्त्र-युद्ध और शाति-युद्ध, दोनो के सिद्धांतो और नियमो की खिचड़ी कर देते है। सिद्धातत. शस्त्र-युद्ध को हम मनुष्योचित नही मानते। मनुष्य को पशु-वल धारण करते हुए या उसका उपयोग करते हुए देखकर मनुष्यता की दृष्टि में हमारी गर्दन झुक जाती है। अपने स्वार्थ के लिए एक-दूसरे का खून करना, एक-दूसरे पर अत्याचार और आक्रमण करना वुद्धि और भावनावाले मनुष्य के कानून मे जायज़ नहीं मना जा सकता। हा, सत्य और धर्ममूलक स्वार्थ की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, पर वह मनुष्य रहकर ही उसकी रक्षा या प्राप्ति कर सकता है। जब एक ओर स्वार्थ की रक्षा करनी है और दूसरी ओर पशुता अगीकार करनी पड़ती है, ऐसी अवस्था मे सच्चा वीर अपने प्राण रहते मनुष्योचित शाति के साथ उसकी रक्षा करेगा। उसके लिए अपने प्राण भी गंवा देगा, पर पशुता को कभी स्वीकार नही करेगा। कभी अपने कमजोर और पतित भाई पर हाथ उठाकर अपनी निर्वलता का परिचय न देगा। शस्त्र-युद्ध अथवा कठोर सत्य कहे तो पशु-वल के युद्ध में शत्रु को अधिक-से-अधिक हानि और अपनेको कम-से-कम हानि पहुंचाना वीरता का और खुद वचे रहकर शत्रु को कैद कर लेना वुद्धिमानी का चिह्न समझा जाता है, परंतु शाति-युद्ध में ऐसा नही होता। शस्त्र-युद्ध प्रतिपक्षी के मन और हृदय पर कब्जा करना चाहता है और यह स्वयं कष्ट सहकर ही, आत्म-वलिदान करके ही, किया जा सकता है। शस्त्र-युद्धवाले अपने को परस्पर शत्रु मानते हैं। अतएव वे परस्पर आक्रमण, रक्तपात को जायज मानते है, पर शात-युद्धवाले अपने प्रतिपक्षी को भूला-भटका मनुष्य—अपना ही एक भाई मानते है। इसलिए वे स्वय कष्ट उठाकर अपना और दोनों का हित करते है। जो लोग मनुष्य को मनुष्य मानते है, अपनी ही तरह दूसरे को भी भूल और पाप कर सकनेवाला और आत्म-सुधार-क्षम मानते ह वे शाति-युद्ध को ही मनुष्योचित युद्ध मान सकते हैं।

भारत ने इस सिद्धात को व्यापक रूप से अपनाकर अपने उन्नत मनुष्यत्व और परिष्कृत वीरता का परिचय संसार को दिया है और एक

दिन आवेगा जब इस देन के लिए संसार को उसके चरणों पर सिर झुकाना पड़ेगा। मनुष्य-जाति के इतिहास में सामूहिक पशुता के ऊपर सामुदायिक मनुष्यता की विजय की यह पहली तैयारी है। परमेश्वर हमारे पशु-बल और पशु-भाव को दिन-दिन क्षीण करे और हमें मनुष्य के सच्चे बल और भावो को पहचानने और अपनाने में अधिकाधिक अग्रसर करे, जिससे अकेला भारत ही नही, सारी मनुष्य-जाति पशुता की अधेरी खाई से निकलकर मनुष्यता के राज-मार्ग पर आ जाय और विकास-कक्षा मे अपने मनुष्य-नाम को सार्थक करे।

: ४ :

धर्म और राजनीति

"धर्महीन राजनीति गले की फांसी है।"

—मो० क० गांधी

धर्म वीर है, पर कायर इसे अपनी बुजदिली की ढाल बनाता है। धर्म निर्भय है,पर डरपोक बली से अपनी जान बचाने के लिए उसकी शरण जाता है। धर्म आजाद है, पर गुलाम उसका उपयोग अपनी बेडिया मजबूत करने मे करता है। धर्म के नाम पर, धर्म की ओट में, क्या-क्या अनर्थ ससार में नही होते? धर्म की दुहाई देकर एक देश दूसरे देश को चूसता है, धर्म की रक्षा के लिए आपस मे तलवारे चलती है—भाई भाई के खून की नदी बहाता है। धर्म तो कहता है, मै लौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए हू, प्रेम के लिए हू, सत्य के लिए हू, पर धर्म के मतवाले उसकी सुने तब न! बुरे-से-बुरे पापाचार और अत्याचार धर्म की साया के नीचे किये जाते है। इस उल्टी गगा के दो फल दिखाई देते है—धर्म से लोगो की श्रद्धा उठ जाना और अधर्म को धर्म समझ बैठना। पहले दल मे अधिकतर पढे-लिखे सुशिक्षित कहलानेवाले लोग है और दूसरे समाज में ज्यादातर

कम पढ़े-लिखे या गंवार लोग । पहले दल के लोग ऊपरी गंदगी को देखकर भीतरी सार-वस्तु को भी मैली समझ रहे हैं और दूसरे दल के लोग तो उसी गटरगगा को धर्म मानकर धर्म की विडंम्वना करते हैं। एक गेरुआ पहननेवाले को, तिलक-छापा करनेवाले को, ढोंगी और पाखडी मानता है और दूसरा साक्षात् धर्म और ईश्वर का अवतार। वास्तव मे देखा जाय तो धर्म, धर्म-तत्त्वो को समझकर उसके अनुसार आचरण करने मे है, कण्ठी, छापा, भभूत, गेरुआ आदि तो उसके वाहरी चिह्न-मात्र है। वे केवल यह दिखलाते है कि अमुक मनुष्य धर्माचरण के किस दर्जे का साधक है।

अच्छा तो धर्म क्या ?

"यतोऽभ्युदयनि श्रेयस सिद्धिः सधर्म ।"

अर्थात्---"जिससे इस लोक मे उन्नति और परलोक में सुख मिले वही धर्म है।" दूसरे शब्दो में मानवी जीवन के स्वाभाविक पूर्ण विकास का जो मार्ग है, जो नियम हैं, उसे धर्म कहते है। इसके विपरीत जो है वह सव अधर्म कहलाता है । धर्म शास्त्रीय शब्द है, कर्तव्य लौकिक या सामाजिक। कर्तव्य धर्म का स्थूल रूप है। मनुष्य इस धर्म-मार्ग पर चलने के लिए निसर्गतः स्वतंत्र है। इस आजादी के विना वह एक क़दम भी आगे नही वढ सकता। उसकी इस आज़ादी में बाधा डालना, उसकी स्वतंत्रता छीनना है, प्रकृति देवी का अपराध करना है और मनुष्य-जाति की उन्नति में वाधक होना है। आजादी धर्म की सहायक है। अतएव मानवी जीवन के लिए दो वाते परम आवश्यक है।

१ धर्म का पालन, २ पूरी आजादी।

इस विकास-क्रम मे मनुष्य को कई स्थितियो में से गुजरना पडता है। यही जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग और अवस्थाएं है। इनमें म ुष्य जो कुछ पाता या सीखता है वही संस्कार वनता है। 'सस्कृति' शब्द इसी संस्कार से वनता है। जिसकी संस्कृति जितनी अच्छी होती है उतना ही उसका विकास सुगम और शीघ्र होता है। पश्चिमी या भौतिक सस्कृति हमारे लिए इसी कारण हानिकर है कि वह धर्म-मार्ग से कोसो दूर चली गई

है। उसने धर्म को राजनीति के हाथ मे बेच दिया है, उसमें पशु-वृत्ति की प्रधानता हो गई है, उसकी गति पतन की ओर है।

मनुष्य समाज-शील है। जो व्यक्ति का ध्येय है वही समाज का ध्येय है। समाज की स्थिति और रक्षा तथा मनुष्य के पारस्परिक सबधो के लिए जो नियम बनाये गये है, उन्हे नीति कहते है। वे व्यक्तिगत विकास के बाधक नही हो सकते। समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए नही है। व्यक्ति और समाज के हित एक ही है। व्यक्ति के विकास-मार्ग से समाज का विकास-मार्ग भिन्न नही हो सकता। समाज की रक्षा के नियम समाज के विकास-मार्ग अर्थात् नीति-धर्म को छोड़कर नही रह सकते। धर्म पति है, नीति उसकी गृहलक्ष्मी है। धर्म जीवन का नियामक और नेता है, नीति जीवन को धर्म पालन के योग्य बनाती है, धर्म की अनुसारिणी है। समाज ऐसा कोई नियम नही बना सकता जो धर्म-तत्व के विपरीत हो और यदि बनावे तो व्यक्ति उसको न मानने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है, क्योंकि वह नीति नही, अनीति है।

राज्य समाज का एक अंग है। समाज का भरण-पोषण, रक्षण और शिक्षण उसका प्रधान कर्तव्य है। समाज ही अपनी सुविधा और आवश्यकता के अनुसार राज्य की सृष्टि करता है। वहीं राज्य को अपनी सत्ता का कुछ अंश प्रदान करता है। समाज के सकेत और व्यवस्था के अनुसार काम करना राज्य का कर्तव्य है। कर्तव्य का पालन ठीक-ठीक न होने पर समाज इस राज्य-संस्था को तोड़कर दूसरी सस्था कायम कर सकता है। इसीको सरकार कहते है। अतएव राजनीति समाजनीति का एक अग हुई। समाज-नीति धर्म-नीति के प्रतिकूल नही हो सकती। अत राजनीति भी धर्म के शासन के बाहर नही जा सकती। राजनीति धर्म की सेवक है। राज्य धर्म के रक्षण के लिए है, भक्षण के लिए नही। वह राज्य या सरकार सबसे श्रेष्ठ है, जो समाज पर कम-से-कम शासन करती हो। जिस राज्य मे प्रजा को यह न मालूम हो कि हमपर कोई राज कर रहा है, कुछ बोझ या दबाव हमपर है, वही राज्य सर्वोत्तम है और जिस राज्य में प्रजा पग-पग पर

पीड़ित, अपमानित हो रही हो, लूटी जा रही हो वह तो नरक के समान है। उस राज्य के अधीन रहना अपने मनुष्यत्व को खोना है। वह पाप है।

आदर्श और उत्कृष्ट राज्य वही हो सकता है जिसके संचालक प्रजा के चुने हुए लोग हो, जो प्रजा के मत के अनुसार उसकी भलाई के ही लिए उसे चलाते हों। इसीको स्वराज्य कहते हैं।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भारत धर्म को आत्म-विकास का मार्ग मानता है, लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन मानता है। धर्म के विना न उसका जीवन है, न गति है। उसका जन्म, जीवन और मृत्यु तीनो धर्ममय ह; उसका समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नीति, राजनीति-विज्ञान सव धर्म की वुनियाद पर स्थिति है—होने चाहिए। सवका ध्येय धर्म-पालन है। वह व्यक्ति.न राज्य की सेवा कर सकता है, न धर्म की, जो राजनीति को धर्म से पृथक् मानता हो। वह शास्ता और शासक अधर्मी है, जो प्रजा को झूठ बोलने पर मजबूर करता हो, जो उसके हुक्म पर प्रजा के दब जाने और डर जाने पर मूछो पर ताव देता हो। वह प्रजा अधर्मी है,जो असत्य और भय के भावो को अपने हृदय में स्थान देती हो जो सच वात कहते हुए डरती हो और.दबती हो। जहा धर्म है वहा भय और असत्य नही, और जहा भय और असत्य है, वहा धर्म नही। वे पाखंडी है,जो धर्म के नाम पर लोगो को सच वोलते हुए रोकते हो, निर्भय रहने में खतरा बताते हो और वुज़दिली पर अक्लमंदी और दानाई का मुलम्मा चढ़ाते हों।

: ५ :

आदर्श समाज

गांधीजी कोरे आदर्शवादी नही थे। वह आदर्श का उल्लेख करके उसके व्यावहारिक रूप पर विशेष जोर देते रहते थे। अतः उनके लेखो व वाक्यो को पढ़ते समय सदैव इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि कौन-सी वात तो

वे आदर्श अवस्था के लिए कह रहे हैं और कौन-सी वर्तमान अवस्था के लिए व कौन-सी सधिकाल के लिए। अपने सामाजिक आदर्श में वे अराजकवादी कहे जा सकते हैं, जिसका यह अर्थ हुआ कि समाज में किसी प्रकार की कोई सरकार न रहे, सब लोग अपने घर-घर के राजा हो जावे। इसी आदर्श को कही उन्होंने 'राम-राज्य' कही 'सर्वोदय' और कही 'अहिंसक स्वराज्य' आदि नामो से पुकारा है। लेकिन समाज की अतिम अवस्था का यह चित्र एकाएक समझ में नही आता। क्या सचमुच मनुष्य इस पृथ्वी तल पर कभी इतना उन्नत—देवता या सत-मुनि की तरह नि स्पृह, निरपेक्ष हो जायगा, जिसके लिए किसी छोटी या बड़ी सामूहिक व्यवस्था की भी आवश्यकता न रहेगी ? मेरी बुद्धि जहातक पहुंचती है उस आदर्श समाज में छोटी-छोटी पचायतो के रूप में कई व्यवस्था मंडल, रहेगे, सारे देश या राष्ट्र के लिए एक बड़ी पचायत के रूप में एक केंद्रीय व्यवस्था-मंडल रहेगा और रह सकता है। वह दंड के बल से शासन नही करेगा, इसलिए आज की भाषा में वह सरकार नही कहा जायगा।

अब यह सवाल उठता है कि उसमे व्यक्तिगत सपत्ति रहेगी या नही, और रही तो उसका क्या स्वरूप होगा ? यह तो मानना होगा कि उस आदर्श समाज में संपत्ति रहेगी और उसकी व्यवस्था समाज को करनी पड़ेगी। अब या तो सारी संपत्ति पर सामाजिक नियंत्रण बल्कि नियमन रखा जाय या मूलभूत उद्योगो (Key Industries) अथवा उत्पादन के साधन पर। देश के सभी उद्योग-धंधे केवल सामाजिक नियंत्रण या नियमन में किस प्रकार चल सकेंगे, यह बात अभी दिमाग में नही समाती। यही ज्यादा व्यावहारिक और सम्भवनीय मालूम होता है कि मूल-भूत उद्योग अथवा साधन तो समाज अथवा राज के नियमन में रहे और दूसरे बड़े उद्योग-धंधे व्यक्तिगत नियमन से चलें। ट्रस्टीशिप का सवाल इन व्यक्तिगत नियमन में चलनेवाले उद्योग-धंधो के संबंध में पैदा हो सकता है। एक तरह से यह छोटे और बड़े सब व्यवस्थापक मण्डल ट्रस्टी ही होंगे। राजसस्था (State) भी तो उस समय सारे समाज के लिए एक ट्रस्टी का

ही काम करेगी। तो यो कहना चाहिए कि दो प्रकार के ट्रस्टी रहेंगे—एक सामाजिक और सामूहिक रूप में काम करेगे जैसे राजसंस्था और दूसरे वैयक्तिक रूप मे। ट्रस्ट शब्द का आज भी कानून में एक खास अर्थ है और ट्रस्टियों पर आज भी कानून के अनुसार कुछ जिम्मेदारियां है, जिनके न निवाहने पर ट्रस्टी राज-नियमानुसार दोपी माने जाते है। महात्माजी का 'ट्रस्टी' शब्द इसी कानूनी अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए अर्थात् यह कि आदर्श व्यवस्था मे जो व्यक्ति छोटे-बड़े काम-धधे करेंगे वे उसके मालिक नही होगे वल्कि राज-व्यवस्था के अनुसार उनके ट्रस्टी होगे और राज-नियमानुसार उसका संचालन करते हुए अपने कर्त्तव्यो का पालन करेंगे। न करने की अवस्था मे राज-नियमानुसार अपराधी समझे जायंगे और उनके लिए उचित कार्यवाई की जायगी।

तो यह सवाल उठता है क्या कि पूजीपति आदि अपने-आप ट्रस्टी वन जायंगे? इसे भी स्पष्ट समझ ले।

यह तो मानकर ही चलना होगा कि यह चित्र आज की अवस्था का नही है, वल्कि उस अवस्था का है जबकि जनता का राज्य स्थापित हो गया होगा। अर्थात् देश में जगह-जगह छोटे पचायती राज्य कायम हो चुके होगे और उन सबके ऊपर एक वड़ी पंचायत वनी होगी, जिसे 'हिंदुस्तान पंचायत' कह सकते है। इनमें मूल उद्योग (Key Industries) पंचायतों के द्वारा चलेंगे और छोटे उद्योग व्यक्तियो द्वारा। ट्रस्टीशिप का सवाल छोटे उद्योगों से ताल्लुक रखता है। इन छोटे उद्योगो को चलानेवाले गाधीजी के राज्य मे उन उद्योगो के मालिक नही, वल्कि ट्रस्टी रहेगे। ट्रस्ट का एक कानून रहेगा जैसाकि आज भी है। मगर उसमे काफी सुधार कर दिये जायंगे। जव सरकारी कानून ही ऐसा हो जायगा कि मूल उद्योग सरकार के द्वारा चले और छोटे उद्योग ट्रस्टियो द्वारा तो फिर यह सवाल ही कहा रह जाता है कि पूजीपति अपनी खुशी से कैसे ट्रस्टी वन जायगे। हा, आज जो शासन-व्यवस्था है, उसके अनुसार व्यक्ति अपनी कमाई का आप मालिक है परंतु आगे चलकर यह व्यवस्था हमे वदलनी होगी। अव

जव कानून वनाने की सत्ता हमारे हाथ में आ गई है तो सुविधानुसार कानून के द्वारा देश के तमाम उद्योगो की व्यवस्था उपरोक्त प्रकार से कर देंगे। किंतु हा, जवतक वहुमत इस पक्ष में न होगा तवतक या तो हमें इंतजार करना होगा या फिर जल्दी ही दूसरी क्राति करनी होगी।

यह क्राति एकदेशीय न होगी, क्योंकि व्यापक व सही दृष्टि से देखा जाय तो सारा विश्व एक-दूसरे से अभिन्न व संलग्न है, अत हम किसी एक देश या समाज का विचार ऐकांतिक रूप से कर ही नही सकते। रेल, हवाई जहाज, टेलीफोन, रेडियो आदि ने व्यावहारिक रूप से भी सव देशों को एक-दूसरे के इतना नजदीक ला दिया है कि हम सव विचार-भिन्नता की दृष्टि से वहुत ज्यादा कर ही नही सकते। देशो या राष्ट्रो की समस्याएं भी अव इतनी स्पष्ट, व्यापक और सर्वग्राही होती जा रही है कि अकेले रहकर कोई भी देश उनको हल नही कर सकता है। मुझे तो सीघी समस्या एक ही दिखाई देती है—सारा मनुष्य-समाज दो प्रकार के लोगो में वंट-सा गया है—एक अमीर, दूसरा गरीव, एक पीड़क, दूसरा पीडित; एक शासक, दूसरा शासित।

अव यह विभाजन वहुत कृत्रिम हो गया है व इसने महान् अन्याय तथा अत्याचार का रूप धारण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप संसार की तमाम छोटी, पिछडी, अशिक्षित, दवी, गुलाम, गरीव जनता का कोई वाली-वारस नही दिखाई पड़ता। जितनी सुख-सुविधा—स्वतंत्रता है उसके मुस्तहक, ठेकेदार, कुछ विशिष्ट लोग या वर्ग—जैसे हो गये है और अधिकांश जनता अपने पालन-पोषण व रक्षा के लिए उन्हींकी ओर मुह उठाये रहती है।

इस दृष्टि से भारत और विश्व की समस्याएं भिन्न नही है और उनका एक ही हल है आदर्श समाज की स्थापना करना, फिर उसे चाहे आप 'सर्वोदय' कहे, 'समाज-सत्ता-प्रधान' कहें, 'कल्याणकारी' कहे। जिस समाज में ऊंच-नीच, गरीव-अमीर, हाकिम-महकूम, का भेद न रहे—समता, न्याय, शाति और 'सहयोग' का भाव रहे, ऊपर के वंधनो की

वजाय भीतरी नियंत्रण रहे---वही आदर्श समाज हो सकता है। उसीकी स्थापना के लिए हमे दिन-रात अथक परिश्रम करना चाहिए।

: ६ :

अहिंसा वीरों का धर्म है

अहिंसा-धर्मी को सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि अहिंसा मुर्दे का या कायर का धर्म नही है, वल्कि जिंदो का और वीरो का जीवित धर्म है। अत्याचार को, सकट को, अनुभव न कर सकना जडता और मुर्दापन है। अनुभव करते हुए उनसे डर या दव जाना, भाग खडे होना, मुह छिपा जाना, उसका कुछ प्रतिकार न करना कायरता है। जो मनुष्य न तो अत्याचार या दु ख का अनुभव करता हो न प्रतिकार, और फिर भी अपनेको अहिंसा-व्रती कहता हो तो या तो वह मूर्ख है या पाखण्डी। अहिंसा मे प्रतिकार का भाव तो है, परतु प्रतिकार की विधि दूसरे को अपने लिए कष्ट देना नही, अत्याचारी को दण्ड देना या उसका वध करना नही, बल्कि स्वय अपने कष्ट सहन की पराकाष्ठा कर देना, अपने प्राण तक को उसमे झोक देना है। सच्ची वीरता और निर्भयता क्या है? जिसने अनुचित सकट और अत्याचार का मुकावला करने के लिए स्वेच्छा से दूसरे अनेक सकटो, कष्टो का और प्राणात तक का आवाहन कर लिया, उनकी वीरता का मुकावला भला क्या हो सकता है? भाग जानेवाले की अपेक्षा प्रहार करके रक्षा करनेवाला जरूर वीर है, परतु प्रहार करने मे अपनी जान वचाने की कमजोरी फिर भी छिपी रहती। पर अहिंसा-व्रती तो, अपने प्राणो को हथेली पर लिये रहता है। दुर्दशा के साथ अपमानित होकर, रोग-जाल से जकडा जाकर, भार-भूत होकर, पद-दलित होकर जीने की अपेक्षा वह मरने को हजार वार पसद करता है। महात्माजी ने जब वछड़े को जहर की पिचकारी दिलाई, अथवा खेती को नष्ट करनेवाले वदरो के प्राण-हरण का उपाय वह सोचने लगे

अथवा उन्होंने जब यह उदाहरण दिया कि अपनी अबोध कन्या को अत्याचारी के वशीभूत होने देने के बदले में उसकी गर्दन धड़ से अलग कर देना पसंद करूंगा, उस समय यह वीर का जीता-जागता अहिंसा-धर्म उनके अंदर काम कर रहा था। उन्होंने सोचा कि रोग-व्याकुल बछड़े को तड़पने देना और दुःख से छुटकारे का उपाय न करना अहिंसा की पंगुता है। इसी प्रकार बंदरों से खेती की रक्षा करने का साधन ढूंढना अहिंसा के सर्व-व्यापक धर्म होने में रुकावट डालना है और सतीत्व भग होने के बजाय मर जाना श्रेष्ठ है,यह भाव यदि अहिंसा में नही है तो वह पवित्रता और तेजस्विता की सहायक अहिंसा नही हो सकती। इसलिए उनको यह सोचना ही पड़ा और हरेक अहिंसा-धर्मी को सोचना पड़ेगा कि जीवन के भिन्न-भिन्न प्रांतों मे अहिंसा का व्यवहार व प्रचार किस प्रकार करें। यदि अहिंसा-धर्म कोरी किताबों मे रखा रहनेवाला धर्म नही है, मुट्ठीभर लोगों के जीवन को उच्च और पवित्र बनानेवाला धर्म नही है, बल्कि ३५ करोड़ भारतवासी एव दुनिया के करोड़ों लोगों के घर में और जीवन मे जीवित रहने योग्य है, तो उसकी व्यवहार-शास्त्र और आचार-शास्त्र का रूप धारण किये बिना गति नही। आखिर मनुष्य जीवन मे कम-से-कम हिंसा करने के नियम का वशवर्ती होकर ही रह सकता है, क्योंकि जबतक श्वास चलती रहती है, तबतक उसमे सूक्ष्म हिंसा होती ही रहती है। ऐसी दशा मे अहिंसा की ओर हमारी गति होते हुए भी हमको कदम-कदम पर कहा किस अंश पर हिंसा क्षम्य हो सकती है और कहां हिंसा के रूप मे अहिंसा छिपी रहती है एवं कहां अहिंसा के दिव्य रूप में हिंसा घर किये रहती है, यह जानना परम आवश्यक है। बछड़े का प्राण-हरण पहली बात का और खून निकलने तक गाय-भैंस को दुहना, कसाइयों को गाय-भैंस खरीदने के लिए बहुत ब्याज पर रुपये देना, महाजनों का आसामियों को रुपये के लोभ से चूसना, विधवाओं को बलपूर्वक रोककर व्यभिचार और भ्रूण-हत्याओं की वृद्धि करना आदि दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं। हमें यह देखना चाहिए कि वास्तव में मनुष्य या प्राणी किसीको कष्ट न देते हुए गौरव-पूर्वक संसार में किस प्रकार रह सकता है।

उस अहिंसा का कुछ मूल्य नही है,जो न सामनेवाले का कष्ट कम करने की प्रवृत्ति रखती हो और न गौरव के साथ जीवित रहने का भाव बढ़ाती हो, ऐसी अहिंसा जिसमे इन दोनो भावो के विकास की पूरी गुजाइश है, एक जीवित और वीर मनुष्य की सतेज और सक्रिय अहिंसा हो सकती है, न कि एक मुर्दा और कायर मनुष्य की म्लान, दीन और निष्क्रिय अहिंसा।

: ७ :

पाप क्या है ?

हम बहुत बार 'पाप' शब्द का प्रयोग करते है, परतु उसका अर्थ समझे हुए नही होते। अतः कई बार साधारण भूल, अपराध भी पाप की श्रेणी में ले लिया जाता है और जहां पाप नही है वहा भी पाप मान लिया जाता है। इसलिए ज़रूरी है कि हम पाप का स्वरूप अच्छी तरह समझ लें।

साधारणतः बुरे कर्म पाप कहलाते है, विशेषतः अनैतिक कर्मो को पाप कहते है। जो कर्म अनजान मे, या पाप की भावना मन मे न रहते हुए, भूल, भ्रम या सहज-प्रेरणा से हो जाते है व जिनका असर सामनेवाले या समाज पर ऊपर-ही-ऊपर होकर रह जाता है, उसे एकाएक पाप नही कहना चाहिए। वह कौटुबिक, सामाजिक या राजनीतिक भूल या अपराध हो सकता है, जैसे चार बजे कार्यालय में पहुचने का नियम है और पाच बजे पहुचे तो यह नियम-भग है, इसे पाप नही माना जा सकता।

पाप के लिए दो शर्ते ज़रूरी है—नीति, सदाचार का उल्लघन होता हो और इस भावना से ही किया गया हो।

नीति-नियम व्यक्ति की उन्नति तथा श्रेय व समाज की व्यवस्था तथा प्रगति की दृष्टि से बनाये गये है। वे इतने आम हो गये है कि ईश्वरी नियम के तौर पर सब जगह माने जाते है। अनीश्वरवादी, अनात्मावादी या नास्तिक समझे जानेवाले लोग भी वैयक्तिक व सामाजिक दृष्टि से उन्हे

अनिवार्य मानते हैं।

वे मुख्यत ये हैं (१) सत्य व्यवहार करना, (२) विना कारण किसीको पीडा न पहुंचाना, (३) चोरी व वलात्कार न करना, (४) किसीकी वहू-वेटी को वुरी निगाह से न देखना।

इन चारो मे सव प्रकार के पापो का समावेश हो जाता है, वल्कि इन्हे और भी संक्षेप मे कहना चाहे तो असत्य व हिंसा—ये ही दो पाप सचमुच पाप हैं, क्योंकि इनका सहारा लिए विना कोई पाप नही किया जा सकता।

चोरी, वलात्कार, व्यभिचार—सवमें झूठ व हिंसा की सहायता लेनी पड़ती है। व्यभिचार चोरी है, वलात्कार डाका है। अत· पाप से वचने के लिए मनुष्य दो ही व्रत ले लें—झूठ का सहारा नही लूगा, दूसरो पर ज्यादती-वलात्कार नही करूंगा।

झूठ का सहारा लेना, दूसरो को धोखा देना है, ज्यादती व वलात्कार करना उसकी स्वतंत्रता में दखल देना है। इस धोखे या ज्यादती की प्रवृति का खुद हमारे मन पर भी वुरा परिणाम होता है, हमारा भी शांति-सूख मिट जाता है।

इस पाप को धोने का गुण तो ईश्वर-शरणता या भक्ति में है। जव तुम सव कुछ ईश्वर के लिए ही करोगे, सवकुछ उसीको अर्पण करोगे, उसके सिवा तुम्हारे लिए ससार में कोई व कुछ है ही नही, तव तुम्हे झूठ, छल, ज्यादती, वलात्कार की ज़रूरत ही क्या रह जायगी ?

इस तरह वर्तमान या अगले पापो से वचाव होगया। वर्तमान वृत्ति का असर पिछले पापो पर भी पडता है। उनका तीखापन निकल जाता है, वे आग निकली हुई राख की तरह हो जाते ह। उनका ऊपरी रूप तो वना रहता है, पर भीतरी प्राण या वल नष्ट हो जाता है। उनका फलतुम तक आवेगा, परतु पहले तुम उसके खयाल मात्र से काप उठते थे, अव तुम खुशी से उसका स्वागत करने को तैयार हो जाओगे।

पहले तुम निराधार, असहाय थे, अव तुम्हे ईश्वररूपी डाड पकड़ने को मिल गया है, जिसने अगले पापो का भय मिटाकर तुम्हे अधिक निर्भय

कर दिया है। इससे पहले जो तीर की तरह आकर लगता था अब वह फूल की तरह लगकर गिर जायगा।

जिन भक्तो व संतो ने ज़हर का प्याला खुशी-खुशी पी लिया, सूली-फांसी पर चढ़ गये, गरम तेल के कढ़ाव में कूद पड़े, आग मे डाल दिये गये, उन्हे जो इनसव यातनाओ को सहने का वल मिला,वैसे ही पापो के फल को सहने का बल मिल जाता है। इसीको कहते हैं पापो का भस्म हो जाना। जो साप था वह फूलो की माला वन गया।

पाप के भी दो स्वरूप होते हैं। एक कर्त्ता—करनेवाले की भावना, दूसरा उसपर और समाज पर होनेवाला परिणाम।

मनुष्य के मन में सवकुछ करने की भावना होती है तभी वह करता है। यह सच है कि सृष्टि के पदार्थो को देखकर ही उसे उनको पाने या भोगने की अभिलापा होती है और इसीसे वह उनको पाने या भोगने के कर्म में प्रवृत्त होता है। इन पदार्थो का होना या रहना तो तभी असभव हो सकता है जब सृष्टि न रहे, न फिर वह पैदा ही होने पावे।

एक तो ऐसा हो नही सकता, क्योकि परमात्मा या प्रकृति का स्वभाव ही सृष्टि को वनाना व अपने मे लय कर लेना है। दूसरे, सृष्टि ही न रही तो फिर जीव, मनुष्य व उसकी समस्या ही कहां रहेगी?

अत: हमें सृष्टि के पदार्थो के अस्तित्व को अनिवार्य या अमिट मान-कर ही चलना होगा, उनके उपस्थित रहते हुए भी उनके कारण जो पाप-प्रवृत्ति होती है उसका इलाज ढूढना होगा। अत: सृष्टि व उसके पदार्थो को छोड़कर हमे खुद मनुष्य मे ही उसका इलाज ढूढ़ना है। मनुष्य जव उससे प्रेरित होता है, उनके पाने की इच्छा व पाने की भावना करता है, तभी तो किसी कर्म या पाप की प्रवृत्ति होगी!

यदि हमने सव स्त्रियो को मा-वहन-वेटी मान रखा हो तो उनके मौजूद रहते हुए भी कैसे कुभावना मन मे आवेगी? यदि हमने यह समझ लिया है कि दूसरे के धन को हाथ लगाना वुरा है तो फिर क्यो चोरी की प्रेरणा मन में जगेगी? अतः व्यभिचार, चोरी, धोखा-धड़ी, वलात्कार, मारकाट,

झूठ आदि की प्रेरणा पहले मन मे उठती है फिर वैसी क्रिया होती है।

इस छान-बीन से हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि पाप का मूल मन में है, कर्म में तो वह सिर्फ प्रकट होता है। समाज कर्म का ही हिसाव अधिक लगाता है, क्योंकि भावना को तो वह जान नही पाता। कर्म के द्वारा ही वह उसतक पहुच सकता है।

कर्म या आचरण के सबंध मे तो समाज व राज्य आदि ने वहुतेरे विधि-निपेध वना रखे है। उसके ब्यौरे मे पड़ना अप्रासगिक है, परंतु भावना या मानसिक विकार के संबंध में अवश्य अधिक जान लेना चाहिए, क्योंकि जड़ को ही संभालना अच्छा है, जिससे पेड ही न वनने पावे।

फिर भावना का साक्षी स्वयं कर्ता ही ज्यादा हो सकता है। समाज तो अनेक कर्मो के नाते को देखकर भावना या नीयत के वारे में सही या गलत अनुमान लगा सकता है। अत: व्यक्ति को खुद अपनी नीयत, इरादे के वारे में सतर्क, सावधान व जागृत रहना वहुत जरूरी है, क्योंकि घर में छिपे चोर या आस्तीन के साप की तरह यह पहले खुद अपनेको व पीछे समाज को भी परेशान व त्रस्त करके छोड़ता है।

पाप की कल्पना मनुष्य को उसकी संस्कृति के अनुसार होती है। सभ्यता या संस्कृति की जिस तह पर वह होगा, वैसा ही उसके पाप का चित्र होगा।

कई जंगली जातियां ऐसी होती है, जो प्रत्यक्ष मैथुन को ही व्यभिचार मानती है और कई लोग ऐसे है कि मर्यादित व्यभिचार को भी दोप नही मानते। वे संस्कृति की नीची सतह के लोग हुए। इनसे ऊपर की सतह के वे लोग है जो दूपित दृष्टि को भी अच्छा नही समझते। इनसे भी ऊचे दर्जे के लोग वे है, जो मन में व्यभिचार की कल्पना आना भी पतन समझते है।

सही दर्जा व स्थिति इन पिछले लोगो की ही है। यही आगे की स्पष्ट व्यभिचार-क्रियाओ से वच सकते है। ऐसी ही वात दूसरे पापो के संबंध मे भी समझनी चाहिए। नीचे की तहवालो को चाहिए कि वे क्रमश: ऊपर की सतह पर आने का प्रयत्न करें। ज्यो-ज्यों ऐसा होगा त्यो-त्यो समाज में

अधिक व्यवस्था व उन्नति दीख पड़ेगी, मनुष्य व समाज के सारे प्रयत्न इसी दिशा मे, इसी उद्देश्य की पूर्ति में, होने चाहिए।

कर्म का नियंत्रण जो समाज व राज्य ने किया है, वह इसलिए आवश्यक है कि भावना के दूषित होते हुए भी यदि मनुष्य लोक-लाज या दण्ड-भय से बच गया, तो कम-से-कम समाज की हानि तो न होने पाई, व्यक्ति की ही हानि होकर रह गई।

उस अशुभ कर्म के लिए विचार करने मे, जोड़-तोड़ भिडाने मे, फिर कर्म न हो सकने की हालत मे निराशा पल्ले पड़ने के रूप में उसकी काफी मानसिक व सामाजिक हानि होती है, विकार-विवश हो जाने से उसका हिसाब मनुष्य सहसा नही लगा पाता।

कोरे कर्म या कर्म के स्वरूप पर ही दृष्टि रखने व उसी रूप मे सदैव भावना का हिसाब लगाने से अन्याय भी हो जाता है। अन्याय भी एक पाप ही है। पीड़ा पहुंचाने की अर्थात् हिंसा की कोटि में आ जाता है।

किसीने किसीसे दूषित भाव से बात की, देखा व स्पर्श किया, या सद्भाव व सहजभाव से——इसका अंदाज़ लगाना कठिन होता है। अतः इसमें दोनो प्रकार की भूलें हो सकती है। कर्म वास्तव में दूषित भाव से हो तो उदारता-वश सद्भाव मान लिया जा सकता है। कभी सद्भाव होने पर भी अनुदारता-वश दूषित भाव ग्रहण कर लिया जा सकता है।

ऐसे अवसरो पर मनुष्य का पूर्व-चरित्र, स्वभाव, वृत्ति आदि को देखकर नतीजा निकालना चाहिए। इसकी कोई अचूक कसौटी या निशानी नही बताई या बनाई जा सकती, क्योंकि मनुष्य का मन व मस्तिष्क एक ऐसी अद्भुत रचना है कि परमात्मा के सिवा बहुत बार खुद कर्ता भी उसकी प्रवृत्तियो का सही अंदाज नही कर सकता।

इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि पाप का मूल भावना मे है, कर्म या आचार से तो उसका परिचय या प्रभाव मात्र मालूम होता है। जो आचार पर ध्यान रखता है व भावना को भुला या खो देता है वह पाखण्डी हो

हो जाता है; जो भावना को पकड़ रखकर आचार के प्रति उदासीन रहता है वह लोक-संग्रह नहीं कर पाता। अतः सुवर्ण नियम यह है कि भावना को पाप से बचाया जाय तथा कर्म या आचार भी उसीके अनुकूल अर्थात् संयम-प्रधान हो ।

३. साधना

: १ :

सिद्ध-योग

संग्राम में विजय पाना सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर बहुत-कुछ अवलंबित रहता है। उसी प्रकार देशोद्धार का कार्य देश-सेवकों के गुण, बल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्राय: असंभव है। हमारे आंदोलनो के बार-बार छिन्न-भिन्न हो जाने का एक मुख्य कारण यह था कि हम देश-सेवक कहलानेवाले सब तरह सुयोग्य न थे। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने, अथवा सुदर कविता रच लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नही पा सकता। ये भी देश-सेवा के साधन हैं; पर ये लोगों के दिलों को तैयार करने भर में सहायक हो सकते है, संगठन और सैन्य अथवा राष्ट्र-संचालन में नहीं। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान लें कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमें किन-किन गुणो के प्राप्त करने की, किन-किन नियमो के पालन करने की आवश्यकता है और फिर उसके अनुसार अपने-अपने जीवन को बनावें।

(१) देश-सेवक में पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नही है, तो और अनेक गुणो के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य मे सफल नही हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपंच के लिए देश या समाज या धर्मसेवा में जगह नही।

(२) दूसरे की बुराइयो को वह पीछे देखे, पर अपनी बुराइयां और त्रुटिया उसे पहले देखनी चाहिए। इससे वह खुद ऊंचा उठेगा और दूसरो का भी स्नेह-संपादन करता हुआ उन्हे ऊंचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निरभिमानता। जो अपने दोप देखता रहता है वह स्वभावत. नम्र होता है, और जो कर्त्तव्य-भाव से सेवा करता है, उसे अभिमान छू नही सकता। उद्धतता, अहम्मन्यता और

वड़प्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते में ज़हरीले काटे है । इनसे उन्हें सर्वदा वचना चाहिए ।

(४) देश-सेवक निर्भय और निश्चयशील होना चाहिए । सत्यवादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है । ये गुण उसे अनेक आपदाओ से अपने-आप वचा लेते है ।

✓ (५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए । मित-व्यय सयम और विचार-शीलता का चिह्न है और मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है । मधुरता की जड़ जिह्वा नही, हृदय होना चाहिए । जिह्वा की मधुरता कपट का चिह्न है; हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है । भापा की कटुता और तीखापन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का । अभिमान स्वय व्यक्ति को गिराता है, अधीरता उसके काम को धक्का पहुंचाती है ।

(६) दु ख मे सदा आगे और सुख मे पीछे रहना चाहिए । यश अपने साथियो को दो और अपयश का जिम्मेदार अपनेको समझने की प्रवृत्ति रहे ।

✓ (७) द्वेप और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए । अपने योग्य साथियो को हमेशा आगे वढने का अवसर देना, उन्हे उत्साहित करना और उनकी वताई अपनी भूल को नम्रता के साथ मान लेना द्वेप-हीनता की कसौटी होती है । अपने जिम्मे की संस्था या धन-संपत्ति को या पद को एक मिनट के नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियो को सौप देने की तैयारी रखना नि.स्वार्थता की कसौटी है ।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम खर्च मे अपना काम चलाना और अपना निजी वोझ औरो पर न डालना चाहिए । सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नही । सेवक के जीवन मे कोई काम शोभा, शृगार के लिए नही होता, केवल आवश्यकता के लिए होता है । ख़र्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो ।

(९) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाब रखना और देना चाहिए। अपने कार्य की डायरी रखनी चाहिए।

(१०) घरू काम से अधिक चिंता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए। एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए। खर्च-वर्च मे अपने और साथियो के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए। सार्वजनिक सेवा सुख चाहनेवालो के नसीब में नही हुआ करती, इसके गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते है जो कष्टो और असुविधाओ को झेलने मे आनद मानते हो, विघ्नो और कठिनाइयो का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत् करते हो। वह तो साधना और तप के बल पर फूलती-फलती है। सेवक ने जहा सुख की इच्छा की नही कि उसका पतन हुआ नही। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नही जीता है—कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी-शक्ति है।

(११) व्यवहार-कुशल बनने की अपेक्षा सेवक साधु बनने की अधिक चेष्टा करे। साधु बननेवाले को व्यवहार-कुशल बनने के लिए अलहदा प्रयत्न नही करना पडता। व्यवहार-कुशलता अपनेको साधुता के चरणो पर चढा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है, वह साधुता के पास आकर उसका सहायक बन जाता है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज के दो रूप है। अतएव यदि एक ही शब्द में देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम बताना चाहे तो कह सकते है कि साधु बनो। साधुता का उदय अपने अंदर करो, साधु की-सी दिनचर्या रखो। अन्न पर नही, भावो पर जिओ। स्वीकृत कार्य के लिए तपो। विघ्नो, विपत्तियो, कठिनाइयो, मोहो और स्वार्थो से लडने मे जो तप होता है वह पचाग्नि से बढकर और उच्च है। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हू कि यदि तुम्हे सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल ससार के लिए देखना चाहते हो, और जल्दी चाहते हो, तो साधु बनो, तप करो। दुनिया में कोई काम ऐसा नही जो साधु के लिए असभव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र

वनाना साधुता है और अंगीकृत कार्यों के लिए विपत्तियां सहना तप है। इन दो बातो का संयोग होने पर दुनिया में कौन-सी बात असंभव हो सकती है ?

: २ :

शौक और सेवा

शौक और सेवा मे ज़मीन आसमान का अंतर है। शौक का संवंध व्यक्ति की अपनी रुचि से है और सेवा का संवध समाज और देश की आवश्यकता से है। मनुष्य की रुचि नदी-प्रवाह के नीचे वहनेवाली रेती की तरह वदलती रहती है। इसलिए शौक का भी रूपातर होता रहता है। आज एक वात करने की उमग होती है, कल दूसरी वात करने की। उसके मूल मे रुचि के सिवा कोई तत्व नही होता। समाज या देश की आवश्यकता निश्चित होती है। जबतक उसकी पूर्ति नही हो जाती, तवतक हमे उस वात मे समाज या देश की सेवा करनी लाज़मी है। शौक का अंत अपनी ही रुचि की पूर्त्ति और उससे होने वाले क्षणिक संतोप मे या असफलता की अवस्था में, चित्त-क्षोभ और दु.ख में होता है। पर-सेवा का अत सर्वदा सुख-संतोपदायी होता है। दूसरो को तो उससे सुख मिलता ही है,हमे भी आत्म-सतोष होता है। सेवा निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म करने वाला शौक-हर्प के द्वंद्व से परे है। शौक व्यक्तिगत भावना है, सेवा समाजगत। शौक से जो सेवा की जाती है वह शौक पूरा होते ही वंद हो जाती है। सेवा के भाव से जो सेवा की जाती है वह जवतक आवश्यकता वाकी है तवतक जारी रहती है। शौक अपने लिए है, सेवा समाज के लिए।

हर समाज और देश में दो तरह के देश-भक्त हुआ करते हैं। एक को हम शौकीन देश-भक्त और दूसरे को सेवक देश-भक्त कह सकते हैं। शौकीन देश-भक्त अक्सर यह उज्र किया करते हैं—"साहव, यह काम हमसे न हो

सकेगा। इसमे तो ये-ये झंझटे ह। यह हमारी लगन के खिलाफ है।" सेवक देश-भक्त तो जिस समय देश की जो आवश्यकता होती है उसीको पूरा करने में अपना तन, मन, धन लगा देता है। वह विचार करता है—मैं अपनी रुचि को देखू या देश की आवश्यकता को ? देश की जरूरत ही उसकी रुचि होती है। शौकीन देश-भक्त जनता के सामने बुद्धि-भेद का उदाहरण पेश करता है, सेवक देश-भक्त अपनी एकनिष्ठ सेवा के द्वारा एकता के भाव हृदय में अकित करता है।

किसी भी आदोलन की प्रतिष्ठा और विजय, प्रत्येक कार्य की तरह, सेवक देश-भक्तो पर अवलंबित है। इनकी संख्या जितनी अधिक होगी उतनी शीघ्र विजय-प्राप्ति संभवनीय है। देश के सामने इस समय जो कार्य है वह देश की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना देश इष्ट-मार्ग पर एक इंच भी आगे नही बढ सकता। कौन कह सकता है, देश को अब सेवको की आवश्यकता नही है, या नवसमाज-निर्माण के लिए रुपयों की जरूरत देश को नही है? खादी तो हमारी योजना का प्राण ही है। शाति उसकी आत्मा और एकता जीवन-शक्ति है। इनकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी यदि हम अपनी रुचि को जीतकर इनकी पूर्ति के उद्योग में अपना सर्वस्व नही लगा सकते तो फिर हममें और शौकीन देश-भक्त मे क्या अतर रह गया ? शौकीन देश-भक्तो से किराये के देश-भक्त अच्छे ! पुरस्कार या कीर्ति आदि के खयाल से तो वे कम-से-कम देश की आज्ञाओ का पालन करते है। शौकीन देश-भक्त तो खुद अपने ही बनाये नियमो और प्रस्तावो के अनुसार चलने से इन्कार कर देता है। शौकीन देश-भक्तो की नीति बिना पेंदी के लोटे की तरह होती है। शौकीन देश-भक्त यदि धनी हुआ तो आज देश के लिए कुछ धन दे देगा, कल इन्कार कर देगा। यदि स्वयं-सेवक हुआ तो जबतक दिल लगा, सेवा की, जब जी उचट गया तो बिल्ला-पट्टा सौंप अलहदा हुआ। यदि कार्यकर्त्ता है तो जबतक सनसनीभरी बाते थी, जय-जयकार या व्याख्यानो की झड़ी थी, इशारे से काम बनता था, काम करते रहे; जब तन तोड काम करने का अवसर आया, बहाव धीमा कर दिया गया, कौशल,

परिश्रम, धीरज, तितिक्षा की परीक्षा का समय आया, किनारा-कशी कर गये,तरह-तरह के उज्र और बहाने पेश करने लगे । पर जो सेवक देश-भक्त है वे उसी तरह शांत, गंभीर नदी-प्रवाह की तरह आज भी काम कर रहे है। न असफलता की आशंका उन्हे सताती है, न कार्यक्रम की अव्यावहारिकता उनके रास्ते में बाधा-रूप है, न नेताओ की कमी उनके लिए अनुत्साह का कारण है और न विजय के हर्ष से वे उन्मत्त ही है । वे अपने निश्चय, संयम, धैर्य और सहनशीलता के बल पर सिद्धि की किरणे आगे आती हुई देखते है और बादलों की छाया को देखकर डगमगाते नही । वे जानते है कि युद्ध के समय सेना को केवल शत्रु की सेना पर हमला ही नही करना पडता, केवल (अगर शस्त्र-युद्ध हो तो) तोपो, गोलियों और सगीनो की मार नही खानी पड़ती, बल्कि घायलो की सेवा, मृतको का अग्नि-संस्कार भी करना पडता है । मौका पड़ने पर खाइयां खोदनी पड़ती है । कवायद करनी और सीखनी पडती है और बिना चू-चपड किये सेनापति की आज्ञा का पालन करना पड़ता है । केवल इसी शर्त पर विजय की आशा हो सकती है । हरेक सैनिक के लिए वहा जगह नही रहती । युद्ध-क्षेत्र न तो चर्चा-समिति है और न फूलों की सेज है। वह तो कार्य-क्षेत्र है, आत्मोत्सर्ग का क्षेत्र है । उस क्षेत्र में विचार और विधान का कार्य, सेनापतियो के सुपुर्द रहता और सैनिक—सच्चे सैनिक तो हाथ का काम खतम करके नया हुक्म पाने के लिए उत्सुक रहते है । वह सेनापति या नेता उत्तम होता है, जो विचार के अवसर पर सबकी सुनता है, सबको अपने विचार प्रदर्शित करने का अवसर देता है और काम के वक्त किसीका हीला-हवाला नही सुनता ।

हमारे स्वतंत्र हो जाने से हमारे संग्राम का अत नही समझना चाहिए। दरिद्रता, भुखमरी, बेकारी आदि के साथ हमारा सग्राम जारी है। जबतक इस संग्राम के सैनिक शौकीन नही, पर सच्चे सेवक देश-भक्त नही होते,तबतक इस भूतल पर स्वर्ग को लाना आसान नही है । याद रखना चाहिए कि सौ शौकीन देश-भक्तो की अपेक्षा एक सच्चा सेवक देश-भक्त कही अधिक उपयोगी होता है ।

: ३ :

भय का भूत

मनुष्य निर्भय है; पर शेर की तरह हिंस्र या क्रूर नहीं। मनुष्य अहिंसक है, पर खरगोश की तरह सिर उठाते ही चौकड़ी नहीं भरता। निर्भयता और अहिंसा दोनों उसके जन्मसिद्ध गुण हैं। जो निर्भय नहीं,वह अहिंसा-परायण नहीं हो सकता। निर्भयता अहिंसा की पहली शर्त है, पहली सीढ़ी है। भारत को दबी बिल्ली की अहिंसा की जरूरत नहीं, वह गजेंद्र की अहिंसा चाहता है। भारत अपने बच्चे-बच्चे को पुरुष-सिंह देखना चाहता है। पुरुष-सिंह निर्भय होते हैं, शूर होते हैं, हिंस्र, क्रूर और भयानक नहीं। हिंसा, क्रूरता, भयानकता तो पशु का धर्म है। मनुष्य को देखते ही भय नहीं, प्रेम, अभय और शांति का अनुभव होना चाहिए।

पर आज मनुष्य-समाज अभी मनुष्य नाम को सार्थक कहां कर पाया है? अभी तो मनुष्य नर-पशु ही बना हुआ है। हां, मनुष्यता के विकास की दृष्टि से—मनुष्य के मानसिक और आत्मिक गुणों के उत्कर्ष की दृष्टि से और देशों की बनिस्बत भारत अधिक अभिमान रखने का अधिकारी है। पर आज उसके कुछ अंगों की विकृत अवस्था देखकर हृदय सहम उठता है। यद्यपि वह गुलामी से छूट गया है, फिर भी आज वह इतना भयभीत दीखता है कि कभी-कभी संदेह होने लगता है कि भारत जिंदा है या मर गया—भारत शूर-वीरों का भारत है या कायरों का! उसके कुछ अंगों में भय का इतना संचार दिखाई देता है कि इस बात पर शक होने लगता है—क्या 'अहम् ब्रह्मास्मि', और 'सोऽहम्' के तत्व का आविष्कार करनेवाले महापुरुष इसी भूमि में पैदा हुए थे? मनुष्य को भय केवल पाप का हो सकता है, ईश्वर का हो सकता है। पर हमारे पीछे तो भय के सैंकड़ों भूत लगे हुए हैं। शत्रु का भय, चोर-भय, लोक-लाज का भय, गुरुजनों का भय, पुलिस का भय, शस्त्र का भय, परिवार का भय, पेट का भय, दगा का भय, स्वार्थ का भय—हानि का भय, मृत्यु का भय, रोगों का भय,—मतलब यह कि तरह-तरह के भयों

ने हमारी आत्मा को इतना कमज़ोर कर दिया है कि हम जीते हुए भी मुर्दे की तरह हो रहे हैं ।

मनुष्य और भय दोनों परस्पर-विरोधी शब्द है । जो नर-नारायण का अंश है—नही, स्वयं नारायण ही है—उसके समीप भय कैसे रह सकता है ? भय का अस्तित्व तो अज्ञान मे है । अरे अज्ञानी, अपने स्वरूप को पहचान । देख—सूरज को देख, यह तेरे ही प्रकाश से चमक रहा है । आग की आच तेरे ही चैतन्य का प्रतिबिंव है । चंद्र तेरी ही शांति का प्रतिनिधि है । अरे, तू प्रकृति का, चराचर का, राजा है राजा, गुलाम नही । दुनिया के बडे-बड़े बादशाह तेरे हाथ के खिलौने हैं । राम बादशाह की भाषा में तेरी शतरंज के मोहरे ह । जिन शक्तियो से आज तू डरता है, जिन्हे तू भयंकर और भीषण समझता है, वे तेरी हुकार के साथ लोप हो जायंगे । तू अपनेको पहचान तो ! तू देखेगा सारे संसार मे तू ही तू है । सव तेरा है—सवका तू है । करामात, उसकी शक्तियो के अद्भुत चमत्कार को देखना चाहता है ? तो निर्भयता सीख । भय भूत की तरह है । भूत को जहा माना नही कि वह पीछे लगा नही । भय मनुष्य-जाति का अपमान है । भय खाना और भय दिखाना दानो मनुष्य-धर्म के विपरीत हे । दोनो कायरता के भिन्न-भिन्न रूप है । जो दूसरो पर भय का प्रयोग करता है,उन्हें डराता है, वह खुद निर्भय नही हो सकता । उसकी आत्मा कभी नही उठ सकती । भय दिखाना पशुता है, भय खाना पशु से भी नीचे गिरना है ।

पर आश्चर्य तो यह है कि जिसका भय हमें रखना चाहिए उसका भय तो हम रखते नही । जिसका भय हमारे पतन का, नाश का वीज हैं, उसे हमने अपना मित्र वना लिया है । मनुष्य-समाज में पाप का और ईश्वर का भय आज कितना है ? दूसरे सैकड़ों भयो ने पाप और ईश्वर के भय को भगा दिया है और वहा अपना अड्डा जमा लिया है । मनुष्य, चेत ! तुझे आज चोरी करने का भय नही, भोले-भाले को ठगने का, लूटने का डर नही, शराब वेचने और पीने का भय नहीं, अपनी वहनो के सतीत्व भंग करने का डर नही, गरीवो को सताने का भय नही, झूठ वोलने, प्रतिज्ञा तोड़ने, धोखा

देने और बेईमानी करने का डर नही, अपने मतलब के लिए उनपर अत्याचार करने का डर नही, अरे, क्या तुझे अपनी आत्मा के कल्याण का खयाल नही ? क्या तेरे सचमुच आखे नही ? पर तू डरता है मिट्टी के पुतले से, लोहे के टुकडे से, पत्थर की ककडियो से, कमजोर और पापी आत्माओ से ? अरे, इनमें दम क्या है ? तू फूक मार, फूंक ? ये भूसी की तरह उड़ जायगे ! पर तू पहले अपने अज्ञान को छोड। मनुष्यत्व को जान, उसका अभिमान रख। भय को घर में से निकाल दे। इससे तू अहिंसा के मर्म को समझेगा। तेरे हृदय मे निर्मल और दिव्य प्रेम का प्रकाश होगा। संसार तुझे अपना मित्र मानेगा। अपनी पाशवी शक्तियो को तुझपर न्यौछावर कर देगा।

तू रामराज्य चाहता है? इससे बढकर राज्य, प्रभु का ऐश्वर्य तुझे और क्या चाहिए ? वह तो तेरी लीला का अ-सकेत मात्र है। भारत की कौन कहे, तू सारे ससार को रामराज्य की राह दिखावेगा। जिन्हे तू शत्रु मानता है, वे तेरे शत्रु नही है। शत्रु तो तेरे हृदय का वह भय है, जिसने तुझे कायर और निर्वीर्य बना रखा है, जो तेरी आत्मा को पनपने नही देता। तू भय का खयाल छोड दे, संसार में तुझे कही भय न दिखाई देगा। तू शरीर और जीवन का मोह छोड़ दे, भय तेरे पास आने की हिम्मत नही कर सकता। तू धन पर से प्रेम हटाले, भय स्वयं तुझसे भय खाने लगेगा। तू स्वार्थ को छोड, यही तो भय का घर है। अपने हृदय की मलिनता को दूर कर, भय तेरे लिए कामधेनु हो जायगा। निर्भय ही ससार में जीवित रह सकते है। निर्भय का ही ससार आदर करता है। निर्भय ही जग मे मनुष्य है। भीरु को दुनिया मे जीने का हक नही, वह जी भी नही सकता। उसकी ससार को ज़रूरत नही। वह भार-भूत है। इसलिए निर्भय हो, निर्भय हो।

: ४ :

उपहास !

उपहास मानसिक दुर्बलता का फल यह है। मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को गिराने मे तभी उपहास का आश्रय लेता है जब उसके पास दलीलो का दिवाला निकल जाता है। क्षुद्रबुद्धि समाज मे चाहे उपहास की कदर होती हो, पर प्रौढ़ समाज मे उपहासकर्ता की प्रतिष्ठा नही हो सकती। किसी व्यक्ति, सिद्धात या संस्था का उपहास करके हम अपने अज्ञान-मूलक थोथे गर्व का परिचय देते है और विचारशील लोगो की दृष्टि मे उपेक्षा-योग्य बन जाते है। कुत्सित कटाक्ष जिस प्रकार प्रतिपक्षी को परास्त करने के बजाय दुराग्रही बनाने मे सहायक होते है उसी प्रकार उपहास नये-नये शत्रु पैदा करता है, और पुरानें शत्रुओ को और पक्का कर देता है। परंतु हम देखते ह कि देश में कुटिल और नीच उपायो से प्रतिपक्षियों को गिरानें की चाल-सी पड़ गई है। सदियो के गुलाम देश मे जो-जो बुराइया न आ जाय वही गनीमत है। देव-दुर्लभ इस भारतभूमि का बड़ा दुर्भाग्य है कि उसकी कुछ संतान घृणित साधनो का अवलबन करके उसका उद्धार करने की निष्फल चिंता मे मग्न है। कितने ही छोटे और कुछ बडे लोग भी कुटिल आक्षेपो और कटु उपहास के मोह से अपनेको बचा नही पाते। नाम-निर्देश करके हम परस्पर अप्रियता की मात्रा को बढाना नही चाहते। हम तो उन लोगों में है जो बढ़ते हुए मनमुटाव को कम करने में अपनी शक्ति खर्च करते हैं। विकारो के आवेश में अथवा पक्ष-द्वेप के फेर मे पड़कर अपनी ओर से हम कोई कारण कड़ुवापन बढ़ाने के हक मे पैदा होने देना नही चाहते। कल तक जो लोग एक झंडे के नीचे कंधे-से-कंधा भिड़ाकर त्याग और कष्ट-सहन करते हुए अपने शत्रुओ से लड़ते थे, आज वे आपस में एक-दूसरे को अपना शत्रु समझकर जहर उगले और विद्वेप की आग बरसावे, यह कितने दुर्दैव, कितने परिताप और कितनी लज्जा की बात है !

महात्माजी के निधन के बाद भी हम अक्सर चार बातो का उपहास

होता हुआ पाते हैं—सत्य, धर्म, प्रेम और अहिंसा। आध्यात्मिक और आत्म-शुद्धि शब्दो का अक्सर मज़ाक उड़ाया जाता है, पर इन दोनो के अर्थ का समावेश पूर्वोक्त चारो शब्दो के अर्थ में अच्छी तरह हो जाता है। हा, यह सच है कि इन सनातन बातो को पसंद करनेवालो की अपेक्षा उपहास करनेवालो की सख्या बहुत छोटी है तथापि जिस अज्ञान या कमजोरी के कारण वे लोग ऐसा करते हैं उसको दूर करने का मौका देना हम उनके प्रति अपना कर्तव्य मानते हैं।

पहले सत्य को लीजिये। हम पूछते हैं कि झूठ बोलना भी कोई देश-भक्ति है? छल-कपट करके कोई देश-सेवा कर सकता है? बुराई करके, बुरे रास्ते चलकर कोई देश का उपकार कर सकता है? मनुष्य झूठ क्यो बोलता है? डर से—प्राण-हानि या स्वार्थ-हानि के डर से। मनुष्य छल-कपट का आश्रय क्यो लेता है? डर—सीधे रास्ते पर चलने से होनेवाले कष्ट के डर से। भला बताइये, ऐसा डरपोक प्राणी क्या देश-सेवा करेगा? वह तो इस सभ्य और छिपी भीरुता तथा कायरता का प्रचार देश मे करके उसे उलटा कापुरुष और बोदा बनावेगा। सत्य से बल मिलता है, सत्य में वीरता है, सत्य के पास हँसते हुए बलिदान कराने की ताकत है। जिसके पास सत्य है वह सर्वदा सर्वतन्त्र-स्वतंत्र है। जो सत्यपालन और देश-भक्ति में विरोध देखते है वे देश-घात को भ्रम से देश-भक्ति मान रहे हैं।

दूसरा शब्द है धर्म। जिन नियमो का पालन करके मनुष्य आज़ाद होकर अपनी सर्वांगीण उन्नति कर लेता है, उनके समुदाय को 'धर्म' कहते है। धर्म स्वतन्त्रता की सडक है, आत्म-विकास की कुंजी है। धर्म का अर्थ न समझकर, उसके मर्म को जानने का प्रयत्न न करके, कुसस्कारो कि द्वारा गृहीत गलत सदर्भो के शिकार होकर हमें उसी डाल को न काट डालना चाहिए, जिसपर हम बैठे हुए है। सच यह है कि आज धर्म की जगह, धर्म के नाम पर मूर्तिमान् अधर्म का आचरण होता हुआ दिखाई देता है। पर दोष धर्म का नही धर्म-तत्वो का नही, हमारा है, आचरण

करनेवालो का है। धर्म के आचरण को सुधारना एक वात है और धर्म की जड़ काट डालना दूसरी वात। व्यक्ति की सार्वजनिक उन्नति के लिए, समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए, धर्म वही काम देता है जो रीढ़ की हड्डी शरीर के संगठन के लिए देती है। धर्म के आधार पर देश की उन्नति, देश की स्वतंत्रता, अवलंबित है। भारत के पैंतीस करोड पुत्र पहले धर्म को पहचानते है, फिर देश को। धर्म की अवहेलना और देश-भक्ति दोनो वातें एक साथ नही रह सकती। धर्म देश का रक्षक है और देश धर्म के लिए जीवित रहता है। धर्म-शास्त्र का अर्थ है आत्माराधन, राजनीति में धर्म का अर्थ है देश-भक्ति, सुशासन। समाज-शास्त्र मे धर्म का अर्थ है सदाचार और जन-सेवा। संग्राम-शास्त्र मे धर्म का अर्थ है पुरुषार्थ ओर आत्मोत्सर्ग। व्यापार-शास्त्र में धर्म का अर्थ है सच्चाई और दान। शिक्षा-शास्त्र मे धर्म का अर्थ है एकनिष्ठा और सद्भाव। इस प्रकार धर्म ही किसी अंश मे प्रधान-रूप से और किन्ही अंशों मे गौण रूप से जीवन के प्रत्येक अंग का रास्ता और सचालक है।

अव तीसरे शव्द प्रेम का विचार करे। हम पूछते है, यदि प्रेम के वल पर हमे सफलता मिल सकती हो तो क्या वुरा है? यदि सवके साथ प्रेम रखते हुए, केवल प्रेम का प्रयोग करते हुए हम आगे वढ सके तो क्या यह अवांछनीय है? द्वेप की तरह प्रेम भी देने से वढ़ता है। द्वेप के वदले मे द्वेप और प्रेम के वदले मे प्रेम मिलना प्रकृति का सिद्ध नियम है। हा, यह सच है कि ज़ालिम के प्रति मन मे एकाएक प्रेम-भाव होना कठिन है; पर महात्माजी ने यह कव कहा है कि किसी व्यवस्था या पद्धति के साथ प्रेम करो? उन्होने तो वार-वार कहा है कि गलत व्यवस्थाओ के प्रति अप्रीति फैलाना हमारा धर्म है। प्रेम का प्रयोग वे व्यक्तियो पर करना चाहते है, न कि प्रणालियों पर। अतएव हमे प्रणाली और व्यक्ति अथवा मनुष्य और उसके कार्य में स्वाभाविक भेद होता है, उसे भुलाकर प्रेम-धर्म की निंदा का पाप न कमाना चाहिए। प्रेम ईश्वर के ऐश्वर्य का दूसरा रूप है, प्रेम प्रकृति का धर्म है, द्वेप प्रकृति का मैल है। प्रेम वल है, द्वेप कमज़ोरी। प्रेम की आच मे

लोहे से भी कड़ा दिल गल जाता है और द्वेष के फुत्कारो से हमदर्द दिल भी झुलसकर बद हो जाता है। जो मनुष्य शत्रु पर भी प्रेम कर सकता है उसके चरणो पर त्रिभुवन का सारा ऐश्वर्य आ गिरता है। जो लोग शत्रु पर प्रेम-प्रयोग करना असंभव और मनुष्य-स्वभाव के विपरीत मानते है वे प्रकृति के नियमो का और ईश्वर के आदेशो का निरादर करते है। राजनीति का यदि मनुष्य के साथ कुछ संबंध है तो वहा प्रेम की प्रतिष्ठा हुए बिना नही रह सकती। राजनीति मे प्रेम को बता बताना राजनीति के पतिव्रत को भंग करना है। राजनीति को वेश्या बताकर उससे सबध रखना और उसमें अपना गौरव मानना उतना ही प्रतिष्ठास्पद है जितना कि भद्र-जनो का कुलटाओ से सबंध रखना।

अब रही अहिंसा की बात। सिद्धात की बात जाने दीजिये। जो लोग भारत की मौजूदा हालत में शस्त्र बिना देश-रक्षा करना सभव नही मानते है, उन्हे हमारी सलाह है कि वे यह काम सरकार पर छोड़ दें और सरकार की उसमें सहायता करें। शस्त्रबल का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से कही भी न किया जाय--यह अधिकार केवल सरकार का ही रहे।

जबान से 'अहिंसा' की प्रशंसा करते हुए उसके खिलाफ आचरण करना देश को गहरी हानि पहुंचाना है। हम उन भाइयो से नम्रतापूर्वक अनुरोध करते है कि वे 'हिंसा' व हथियार की बात छोड़कर ईमानदारी के साथ अहिंसात्मक प्रयोग में साथ दे, खासकर ऐसी अवस्था में जब अहिंसा के आचार्य की आवाज हमी लोगो के पापो के कारण अब बद है, उसका उपहास करना वीरोचित नही। स्वराज्य और स्वतंत्रता की जिस व्याकुलता ने देश को अहिंसाव्रती बनाया था, उसकी अब और भी ज्यादा जरूरत है। आत्म-रक्षा की दुहाई देकर 'अहिंसा' का तिरस्कार करना, निंदा करना, आते हुए उज्ज्वल भविष्य की खोपड़ी पर डडो का प्रहार करके उसे वापस खदेड़ना है।

: ५ :

अनुत्साह का मूल

उत्साह जीवन का धर्म है, अनुत्साह मृत्यु का प्रतीक है। उत्साहवान् मनुष्य आशावादी होता है। उसे सारा विश्व आगे बढता दिखाई देता है। विजय, सफलता और कल्याण सदैव आख मे नाचा करते हैं। उत्साहहीन हृदय और जीवन को देखने के लिए हमारी आखो मे उनके सुप्त बीजो की आवश्यकता है। कुछ लोग आज इस बात की शिकायत करते है कि काग्रेस सरकार बनने के बाद अब जनता मे अनुत्साह फैल गया है, उसका जोश ठडा पड़ गया है, वर्तमान कार्य-क्रम से जनता असंतुष्ट है, उसमे कुछ परिवर्तन किये बिना, कुछ तेज़ दवा पिलाये बिना जनता का जोश कायम नही रहेगा। और यदि एक तरफ यही सुस्ती की हालत रही एव दूसरी ओर सरकार कोई सतोपजनक मार्ग न निकाल सकी तो हम दोनो ओर से घाटे मे रहेगे। पर हम पूछते हैं कि ये भाव, ये विचार आपके हृदय मे है या जनता के हृदय के हैं ? जनता का हृदय तो अनेक सुप्त भावनाओ का सागर है। उसके जिस भाव को जाग्रत करे वही हमे जाग्रत दिखाई देगा। उसके हृदय में रामराज्य छिपा हुआ है, सोया हुआ है। हम कार्यकर्त्ताओ का यह काम है कि उसको जगाकर उसकी प्रतीति जनता को करा दे। जनता का हृदय एक स्वच्छ आईना है। उसमे हम अपने हृदय के भावो को देख सकते है। जब हमारे हृदय मे उत्साह होता है, आनद होता है, आशा होती है तब जनता भी हमें उत्साह-आनद-आशामयी दिखाई देती है। जब हम ही दुर्मुख होकर उसकी ओर देखते है तो वहा से भी हमे वही उत्तर मिलता है। कभी-कभी सदेह होने लगता है और वह ठीक भी है। जिस अनुत्साह और शिथिलता की पुकार मच रही है वह वास्तव मे जनता के हृदय की चीज़ है या खुद कार्यकर्त्ताओ के दिल की ? हम आत्म-वचना तो नही कर रहे है ? अपने दिल के अनुत्साह का आरोप जनता पर तो नही कर रहे है ? अपनी ही कमज़ोरियो और कुसंस्कारो की बदौलत तो हम वर्तमान स्थिति को अनु-

त्साह-वर्द्धक नही पाते है ? क्या सचमुच हमारे कार्यकर्त्ताओं के हृदय मे पिछले जैसा कार्योत्साह है ? क्या हमने जनता में काम करके देख लिया है—हर तरह से जनता को समझा-बुझाकर हार गये हैं और इस तरह निराश होकर ही हम सुस्त पड़ गये है ? क्या हमने कस्बे और गाव-गाव जाकर सभाएं की हैं ? उनमे जनता का मत लिया है ? क्या जनता ने मौजूदा सरकार-व्यवस्था पर अपना अविश्वास प्रकट किया है ? क्या उसने इंकार किया है कि इस कार्यक्रम से हमारे अदर निर्भयता, साहस और आजादी की भावना जाग्रत नही हुई है ? हम प्रजा-सत्ता के नाम पर अपनी ही सत्ता का प्रयोग तो नहीं कर रहे हैं ? प्रजा-सत्ता के स्थान पर अपनी ही सत्ता तो चलाना नही चाहते है ? अपने ही मत को तो हम प्रजा का मत नही वता रहे हैं ? प्रजा-सत्ता के तत्त्वो की दुहाई देकर हम अपनी कमजोरियो और कम-तैयारी को छिपाना तो नही चाहते है ?

यदि हम तैयार हैं तो दुनिया में मुश्किल कौन वात है ? कोई वात कठिन और दुस्साध्य केवल उन्ही लोगो के लिए होती है जो या तो खुद काम करना नही चाहते—दूसरो से करवाना चाहते है, या उसके लिए आवश्यक कष्ट और असुविधा सहने को तैयार नही होते। सच्ची लगन और व्याकुलता होने पर न तो अनुत्साह ही पास आ सकता है, न असुविधा। काम वास्तव मे कठिन नही होता है, हमारी कमजोरी और कम-तैयारी उसे कठिन वना देती है। जो मनुष्य अपने पुरुपार्थ से परमात्म-पद तक प्राप्त कर लेता है उसके लिए कौन्‍ वात मुश्किल है ? जो वडे-से-वड़े हिंस्र, भयानक जतुओ को अपना सेवक वना लेता है उसका अपना भविष्य वना लेना कठिन है ? यदि हमें खादी पहनना एव घर-घर जाकर उसका प्रचार करना और पहनाना, आपस में प्रेम और एकता वढाना तथा गांवो का सगठन कठिन मालूम होता है तो यह कहने मे क्या जान है कि हम जानता के लिए सव करने को तैयार है ? छोटी-सी परीक्षा के लिए जो हिचकते है उनके लिए कठिन परीक्षा मे पास होने की वड़ी-वड़ी वाते करना क्या स्वय अपनेको और दूसरे को धोखा देना नही है ?

समय नाजुक है, टेढ़ा है; देश के सामने जीवन-मरण का प्रश्न है। राष्ट्रों के इतिहास के बनने-बिगड़ने का समय है। हमारा बल, वीर्य, पुरुषार्थ और स्वतंत्रता-प्रेम कसौटी पर कसा जा रहा है। घबड़ाने, पीछे कदम हटाने, दबने और बोदापन दिखाने से राष्ट्र का सर्वनाश हो जायगा। मनुष्य होते हुए अनुत्साह रखना और उसकी शिकायत करना इस अवसर पर हमे लज्जाजनक मालूम होना चाहिए। इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हमारी माताए और बहने कडवी घूटे पी रही है और हम मूछोवाले मर्द बनकर अनुत्साह और शिथिलता के गीत गाते हुए समय गवा रहे है! अतएव भाइयो, सोचो, अपनी आत्मा को टटोलो, उसको कमजोर न होने दो। अपनी कमज़ोरियो और अनुत्साह का आरोप जनता पर न मढो। यदि हमारी देश-भक्ति हमे बातें बनाने, विरोध बढ़ाने, आराम करने की ही सलाह देती है तो बेहतर है कि वह अपने और देश के भविष्य से निराश हो जाय। यदि हम आज़ादी के लिए अपना भविष्य बनाना चाहते है, उसकी भूख हमें लग चुकी है तो हमारे रास्ते को दुनिया की कोई भी रुकावट, कोई विघ्न-बाधा, कोई संकट और अमंगल नही रोक सकता। जो शक्ति उसे रोकने का प्रयत्न करेगी वह खुद आप ही नष्ट होगी और हमारा एक-एक कदम आगे ही बढ़ेगा।

: ६ :

सत्याग्रह का मर्म

गई हुई आजादी को प्राप्त करने और गले पड़ी गुलामी को दूर करने का एक ही अचूक उपाय दुनिया मे है—युद्ध। आजतक आम तौर पर हम ससार के इतिहास मे सशस्त्र युद्धो—शारीरिक युद्धो को ही पाते है। पर भारत की वर्तमान अवस्था मे शस्त्र-युद्ध की कल्पना तक करना नादानी थी। इसलिए महात्मा गांधी की प्रतिभा ने हमे युद्ध का एक दूसरा उपाय

वताया। वह है अहिंसात्मक सत्याग्रह। शस्त्र-युद्धो में प्रतिपक्षी एक-दूसरे के शरीर पर प्रहार करते है, फलतः दोनो का जोश और आवेश वढता है। दोनो अधिकाधिक प्रकार की तैयारी करते है। अधिकाधिक नाशक सामग्री जुटाते है। अत को एक की हार होती है, और एक की जीत। जो हारता है वह फिर जीतने की इच्छा से युद्ध की तैयारी करता है। इस तरह सारा जीवन युद्ध और विनाशक सामग्री तैयार करने में ही बीतता है। पश्चिमी संसार मे सप्तवर्षीय युद्ध, शतवर्षीय युद्ध और पिछला अगणित धन-जन-संहारक विश्व-युद्ध प्रसिद्ध ही है। सारा संसार शस्त्र-युद्धो का, रक्तपात का, धन-जन-संहार का खासा अखाड़ा बना हुआ है। और कुछ लोग कहते है—"यह स्थिति अनिवार्य है। यह राष्ट्रो के उत्कर्ष के लिए है। युद्ध के बाद ही शाति स्थापित होती है।" वे ऐसे धन-जन-शांति-नाशक आसुरी युद्धो को ईश्वरीय देन समझते है और उस सुदिन की वाट जोहा करते है। पर वे यह नही सोचते कि जिसके मूल में प्रतिहिंसा है, जिसका रूप रक्तपातमय है, अशातिमय है, जिसका अंत फिर प्रतिहिंसा की वृद्धि में होता है, उससे समाज को सुख-शाति कैसे मिल सकती है? "वोये बीज बबूर के, आम कहां ते होय?" खुशी की बात है कि विश्व के राजनेता इस सत्य का कुछ-कुछ अनुभव करने लगे है—पंचशील के द्वारा अपनी रूढ़ मान्यताओ को ढीला करने का परिचय दे रहे है।

सत्याग्रह का रूप शस्त्र-युद्ध से विल्कुल भिन्न है। वह प्रतिपक्षी के शरीर पर शरीर या शस्त्र द्वारा प्रहार नही करता, न उसे चोट पहुंचाने की इच्छा ही करता है। ऐसा प्रहार करना प्रतिपक्षी को उत्साहित करना है, सहायता देना है, अतएव प्रहार न करके पहले तो हम उसको हम पर आक्रमण या प्रहार करने से अनुत्साहित कर देते है, फिर जिस-जिस रूप में हमारे ऊपर उसका आधार है, वह सब हम उससे खीच लेते हैं, इससे वह अपने आप पगु हो जाता है, और जब उसके प्रहारो का उत्तर हम क्षमा और दया के द्वारा देते है तब उसकी पशु-वृत्ति दबती है, और मनुष्यता जागृत होती है। बस, वह सदैव के लिए हमारा मित्र हो जाता है। यह प्रयोग सामुदायिक

रूप से ससार के लिए बिल्कुल नया है। भारतवर्ष को इस बात का बडा अभिमान है कि इस शातिमूलक, शातिमय और शातिदायी प्रयोग का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ। प्रयोगावस्था से ही युद्ध-पीडित और युद्ध-क्लात देश चातक की तरह उसकी ओर देख रहे है।

अग्रेजी सरकार तो सपूर्णत. हमारे सहयोग पर जी रही थी। हमारी कमजोरियो ने, हमारी भूलो ने, इसे यहां जमने दिया और फूलने-फलने दिया। हमारी कमजोरियो के बल पर वह अबतक जीती रही। न तलवार लेकर वह यहा आई, न तलवार के बल पर उसने भारत को जीता, न तलवार के बल पर वह कायम थी। वह तराजू लेकर आई, हमारी फूट पर और फलतः हमारे सहयोग पर उसने हमारे घरो मे पाव पसारे, हम पर जादू डाला, हम भुलावे में आ गये, उसके हो गये। तब सिर धुनते पछताते—"रे इसने नामर्द बना डाला!" पर साथ ही जान मे और अनजान मे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, अपने सहयोग के द्वारा उसकी जड़ को जीवन से सीच रहे थे। जिन्हे तलवार खीचने की चाह है, उनके पास चाकू भी नही था। और सबसे बड़ी दु.ख की बात तो यह है कि उसके लिए मर-मिटने का हौसला भी उनके पास न था। इसलिए महात्माजी ने कहा—मरना सीखो। मारना आसान है, मरना मुश्किल है। जो मरना नही जानता वह मारना भी नही जान सकता। जिसे मरना याद है उसकी ओर दुनिया मे कोई आंख उठाकर नही देख सकता। उसे कोई पलभर गुलामी मे नही रख सकता। जबतक अगरेजी सरकार की तलवार से, मशीनगन से डरते रहे, तबतक हम उनके साथ सहयोग करते रहे। जबतक हम समझते रहे कि शस्त्र-बल ही एकमात्र और सर्वोपरि बल है, मारना ही बहादुरी है, तबतक हम जरूर तलवार से डरते रहे और डरते रहेगे। पर जिस दिन हमने यह रहस्य समझ लिया कि इस सरकार की जड़ हमारा सहयोग है, तलवार नही, जनता के नैतिक बल की सहायता है, पशु-बल नही, उसकी मशीनगने और हवाई जहाज बेकार हो गये। जालिम सरकार से सहयोग वही कर सकते है जो स्वावलबन से, आत्म-सम्मान से और स्वातंत्र्य-प्रेम से हीन है।

आजादी का सच्चा प्रेमी तो खुद मर मिटेगा, अपने बाल-बच्चो को बलि-वेदी पर चढ़ा देगा, अपने घर-बार को स्वाहा कर देगा, पर एक दिन भी जालिम सरकार के साथ सहयोग न करेगा। हमारे आदोलन का उद्देश्य बदला लेना नही था, दंड देना नही था, विघ्न-बाधा डालना नही था, जहालत-गुडापन नही था, बेईमानी नही थी। हमारे आंदोलन का अर्थ था गौरव के साथ रहना, अपनी सहायता खीच लेना, प्रतिपक्षी के साथ सज्जनता का, नीति का बर्ताव करना, उसके बुरे कामो से असहयोग करते हुए उसे अपने विश्वास के अनुसार काम करने का हक कायम रखना, उसे समझाना-बुझाना कि 'भाई यह पाप है, इसे न करो'—आवश्यकता पडने पर स्वयं कष्ट उठाकर उसकी आखें खोलने का प्रयत्न करना। हमारे सत्याग्रह का यह मतलब हरगिज नही था कि हम उसके रास्ते मे रोड़े डालें, काटे बखेर दें, उसे गंदा कर दे, खुद खडे हो जायं, लेट जावें, इस तरह उसे तंग करके, दिक करके, उसे रास्ते पर न चलने के लिए मजबूर करे। यह तो दबाव अतएव हिंसा था, उसकी काम करने की आजादी छीन लेना था। असहयोग-आदोलन मे जिन विद्यार्थियो ने रास्ते मे लेटकर दूसरे विद्यार्थियो को परीक्षा-भवन में जाने से रोका था, उनका कार्य इस सिद्धात के अनुसार असमर्थनीय माना गया था। इसी प्रकार जबर्दस्ती पिकेटिंग द्वारा दूकानदारो का, ग्राहको का, रास्ता उनकी इच्छा के विरुद्ध रोककर जो कुछ किया गया, उनका भी समर्थन सिद्धातत नही किया जा सकता।

हमने जब मतदाताओ से यह कहा कि भाई, ये जालिम सरकार से सहयोग करने जा रहे हैं, इन्हे मत न दो या कौंसिलो के उम्मेदवारो को समझाया कि यह बुराई न करो, इसके लिए यदि वे हमपर प्रहार करें, आक्रमण करे, तो भी उसे सहकर उनको उस रास्ते जाने मे मना किया तो यह सत्याग्रह का मार्ग था। मना करना, समझाना-बुझाना, उनके लिए उनके दिये कष्टो को सहन करना उचित है। उनके रास्ते मे विघ्न-बाधा उपस्थित करना, उन्हे रोकना, सत्याग्रह की मर्यादा के विपरीत है, क्योकि इस प्रकार की नीति के अदर विद्वेष, बदला और प्रतिहिंसा थी। भारत अब राम-

राज्य के लिए आतुर है। उसकी प्राप्ति तो शातिमय शक्ति के द्वारा ही हो सकती है। भूदान और निर्माणात्मक विकास के कार्यक्रम इसी शांतिमय क्राति की तैयारी के लिए देश के सामने उपस्थित किया गया है। हमारी जिन कमजोरियो के वल पर मौजूदा समाज-व्यवस्था टिक रही है उनमे सवसे वडी कमजोरी है हमारी आपस की फूट। इसलिए हमसे कहा गया है कि सव जातियो मे एकता स्थापित करो। हम स्वदेशी धर्म को भूल गये थे। इसका प्रायश्चित्त हमने खादी-प्रचार के द्वारा किया। हमारे संगठन और अनुशासन के अभाव से अंग्रेजो की यहा दाल गल गई। हमने काग्रेस की छत्रच्छाया मे अपना संगठन और अनुशासन मजवूत किया, तभी हम राष्ट्र का वल वढा सके और विदेशी सत्ता को हटा सके। अव और रही-सही कमजोरियो को दूर किये विना आप नवीन क्राति के लिए कैसे तैयार हो सकते है? माना कि यह काम श्रम-साध्य है, हमारे आरामतलव मिजाज के लिए कठिन है, पर क्या हम उससे मुह मोड़ सकते है? यदि मोड सकते है तो फिर नवीन क्राति का नाम लेकर उसको, अपने देश को, और अपने मनुष्यत्व को लज्जित करने के लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए।

: ७ :

भावी स्वप्न

भूतकाल वूढ़े लोगो का, वर्तमान काल कर्मवीरो का और भविष्यत्काल नौजवानो का है। भूतकाल के अनुभव, वर्तमान के उत्साह और भविष्यत् की आशा का जबतक संयोग नही होता तबतक कोई महान् कार्य नही होता। कोई मनुष्य जवतक वूढ़ा, प्रौढ़ और जवान नही हो सकता तवतक वह पुरुपार्थी नही हो पाता। वूढे की तरह भूतकाल के अनुभवो पर शात चित्त से विचार किये विना, नौजवानो की तरह भविष्य के स्वप्नो से हृदय को आशामय बनाये विना, प्रौढ की तरह वर्तमान के कर्तव्यो का निश्चय नही

कर सकता और न वह उत्साह-पूर्वक अपने कार्यक्रम को ही पूरा कर सकता है। यह त्रिवेणी सगम कार्य-सिद्धि का मूलमंत्र है।

भूतकाल जिसे स्वप्न मानता है, वही वर्तमान के लिए संभवनीय है और भविष्य के लिए तो प्रत्यक्ष ही है। बूढे लोग यदि युवको की महत्वाकाक्षाओ को स्वप्न समझें तो यह उनकी भूल है। युवक यदि बूढे लोगो के अनुभवो को उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखें तो यह उनकी भूल है। प्रौढ यदि बूढ़े और जवान दोनो से मित्रता नही रखें, अनुभव और आशा दोनो की उपेक्षा करें तो उन्हे स्फूर्ति नही मिल सकती, उनका जीवन बेकार है। यह तो आत्मघात है। जो इन तीनो का सम्मेलन, तीनो का सामजस्य, अपने जीवन में, अपने चरित्र में, करता है, वही पुरुषार्थी कहलाता है, वही नेता होता है, वही जातियो और राष्ट्रो के भाग्य को पलट देता है।

भगवान् ने मनुष्य को आखें आगे दी है, पीछे नही। इसका अर्थ यह है कि हमें सदैव आगे देखना चाहिए। भविष्यकाल पर निगाह रखनी चाहिए। दाये-बायें देखने की भी शक्ति दी है, जो सावधानी की सूचक है। परंतु पीछे तो मुडकर ही देखना पडता है, अर्थात् आवश्यकता पडने पर पीछे देखा जा सकता है। जो रास्ता पीछे छोड़ आये उसे बार-बार देखने की और सतत याद रखने की आवश्यकता ही क्या है ? उसकी बुनियाद पर हमारा महल खडा है, खडा हो रहा है, यह भान काफी है। उस बुनियाद को बार-बार खोदकर देखना कोई बुद्धिमानी होगी ?

भारत के सामने आज बड़ी समस्या है। आज उसके जीवन में तीनो काल लड रहे है। भूतकाल कहता है—जहा है वही खडे रहो, वैसे ही बने रहो; जो मिलता है उसे ले लो, भविष्य के 'सब्ज़बाग' पर पागल मत बनो, यह केवल मृगतृष्णा है। भविष्यत्‌काल कहता है—तू बूढा है, सठिया गया है, डरपोक! तुझे मेरे चमत्कार का, मेरी करामात का क्या पता ? चुप बैठा रह! मेरे रास्ते में काटे न बखेर। वर्तमान बेचारा हैरान है। उसकी बात ये दोनो नही सुनते। दोनो अपनी धुन में मस्त है। इससे वर्तमान कर्तव्य-मूढ और कर्तव्य-हीन हो रहा है। वह पुरुषार्थ की खोज में है। कोई पुरु-

पार्थी एसा है जो तीनो मे समझौता करा दे ? दूर से एक मंद आवाज तो आती है कि भारत मा की गोदी खाली नही रह सकती। उसकी अंगुली पूर्व की ओर उठती नजर आती है।

भावी स्वप्न--भारत का भावी स्वप्न निश्चित है। वह भूतकाल के खंडहर से निकलकर, वर्तमान की सीमा पर आ पहुचा है, जहा वह भविष्यत् के गर्भ मे लीन हो जाता है। स्वराज्य अब स्वप्न की वात नही रही, संभवनीयता का भी विपय नही रहा, प्रत्यक्ष उदय हो गया है। पूर्णोदय अर्थात् रामराज्य के पहले उसे अभी विरोधियो से युद्ध करना है, उसका प्रेम का युद्ध है, शाति का युद्ध है। अपने पुरुपार्थ की, अपने स्वावलंवन की, वृद्धि ही उसकी मुख्य शक्ति है। अहिंसा, सब जातियो की एकता, विकेंद्रीकरण व पंचफसला, ये चार उसके साधन हैं। यही वर्तमान काल का चतुर्विध पुरुपार्थ है। यही रामराज्य का अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है। रामराज्य वुद्धियुद्ध और वाग्यद्ध से नही मिलेगा। वह तो पुरुपार्थ से मिलेगा, तप और त्याग से मिलेगा। जहा पुरुषार्थ है, वहा सिद्धि है। पुरुपार्थ का अर्थ दाव-पेच नही, चालवाजियां नही। पुरुपार्थ तो सत्य और निष्कपटता का सार है। पुरुपार्थी इस वात से नही हिचकता कि मेरा कार्य जन-रुचि के प्रतिकूल है। वह तो जनरुचि को सुधारता है, वनाता है। वह प्रकृति का गुलाम नही, राजा होता है। वह समय के प्रवाह को वदलता है, वह नवीन युग का निर्माण करता है, वह स्वप्न को प्रत्यक्ष कर देता है। वह भूत-वर्तमान सवको एक घाट पानी पिलाता है। भारत का भावी स्वप्न इसी पुरुषार्थ की राह देख रहा है। हमारे पास भी जनता के लिए एक ही सदेश है—"पुरुपार्थ यदि भाव-स्वप्न को प्रत्यक्ष करना चाहते हो तो पुरुपार्थ करो—'पुरुप हो, पुरुपार्थ करो, उठो।'

: ८ :

आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता

स्तुति मनुष्य को प्रिय होती है और वह टीका से नाराज होता है—यह अक्सर देखा जाता है, किंतु यह उन्नतिशील मनुष्य का लक्षण नही है। जिन्होने देश-सेवा का सकल्प किया है, उनकी स्थिति उल्टी होनी चाहिए। यानी टीका और निंदा का स्वागत करने की ओर स्तुति के प्रति उदासीन रहने की वृत्ति होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब हम आत्मनिरीक्षण की ओर रुचि रखें। इसके विना न हम अपने-आपको ही ठीक-ठीक पहचान सकते है, न दूसरो से ही ज्यादा लाभ उठा सकते हैं। जो आत्म-परीक्षण करते है उनमे नम्रता होती है, दूसरो के प्रति सहिष्णुता और उदारता होती है। ऐसे ही व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र मे अधिक उपयोगी और सफल हो सकते है।

आत्म-परीक्षण के उदाहरण के लिए एक साथी कार्यकर्त्ता का अच्छा पत्र मेरे पास आया है। जिसका सार इस प्रकार है :

"मुझे हमेशा यह खयाल बना रहता है कि मेरी तरफ से जान या अनजान मे कोई ऐसा काम न हो जाय जिससे आपके हृदय को आघात पहुंचे। फिर भी मुझसे कुछ-न-कुछ ऐसा हो ही जाता है। मुमकिन है, आपकी श्रेष्ठता पर इनका कुछ भी असर न हो। मगर मेरे लिए तो यह बड़ा दु:ख का विषय है। यदि मुझमे आघात बर्दाश्त करने की क्षमता नही है तो मुझे किसीको भी कोई आघात न पहुचाना चाहिए। होना तो यह चाहिए कि मुझे चाहे जितने भी आघात पहुचें मगर मेरी तरफ से तो एक भी आघात न होना चाहिए। स्वतत्रता की जिस राह पर आप जा रहे है, मेरी भी जिंदगी के लिए यही एक रास्ता और राहत है। शायद आपको कष्ट पहुचानेवाले कम थे, जो मैं एक और मिल गया। वर्षों के अच्छे-बुरे सस्कारो से मै इतनी जल्दी कैसे छुटकारा पा सकता हू? हां, मैं जाग्रत अवश्य रहता हूं और प्रयत्नशील भी हू। मै चाहता हूं कि मुझसे कोई भी त्रुटि हो तो मुझे बता

दिया करें।"

मैंने इसका जो उत्तर इन्हे दिया है उसका आवश्यक अंग, जिससे दूसरे कार्यकर्त्ता तथा अन्य भाइयो को लाभ हो सकता है, यहां देता हूं---

"तुम्हारे पत्र मे आत्म-निरीक्षण और अपनी त्रुटियो के प्रति दु.ख है---यह संतोष की वात है। उन्नतिशील सेवक मे ये दोनो बातें अवश्य होनी चाहिए। तुम्हारे अंदर स्वतत्रता की जो आग है उसीने हमारा सवंध जुड़ाया है। मै चाहता हूं कि मेरे एक-एक साथी शेर वनकर रहे---दूसरो को खाने के लिए नही, दुखियो, प्रपीड़ितो और शोपितो की रक्षा और स्वाधीनता के लिए। यह कहने की जरूरत नही कि जो व्यक्ति जितना ही निर्दोप होगा, अर्थात् सद्‌गुणो से, सत्प्रवृत्तियो से युक्त और दुर्गुणो से तथा दुष्प-वृत्तियो से हीन होगा, उतना ही वह तेजस्वी यानी शेर हो सकेगा। तुममे क्रोध काफी है, इसीसे असहिष्णुता भी है। वदले का भाव तो तभी तक रह सकता है जवतक हम अपने साथ अधिक न्याय करने की वृत्ति रखे। जव दूसरों के गुणो पर और अपनी त्रुटियो पर ज्यादा ध्यान दोगे तव यह दोप दूर होने लगेगा।

"अपनी त्रुटियो के भान के वोझ से तुम्हे दव न जाना चाहिए। त्रुटियो से लडो, उनसे दवो नही, मन को दुर्वल मत होने दो। जव-जव क्रोध या वदले का भाव आवे तव-तव मन को दलीलो से समझाओ, जैसाकि ऐसे अव-सरो पर हम दूसरो को समझाते हैं। यदि इतना क्रोध आ जाय कि दलील करने और मन की सुनने की स्थिति मे वुद्धि न रह जाय तो उस समय ठडे पानी मे स्नान कर लिया करो---या राम-नाम का जप करने लगो। इससे तुम्हे आश्चर्यजनक लाभ होगा। फिर धीरज रखो, लगन के साथ सच्चे दिल से प्रयत्न करो---इससे अधिक कोई कुछ नही कर सकता।

"मेरे दु.ख के विचार से तुम सद्‌गुणी वनो, इससे ज्यादा अच्छा हो कि अपने ही हित और उन्नति के विचार से वनो। यह अधिक स्वार्थ-प्रेरक वस्तु है। मै जितनी ऊचाई पर चलना चाहता हूं उसमे इस तरह के दु.ख होना अनिवार्य है। यदि मेरे साथी मेरे साथ नग्न व्यवहार करते है, आत्म-निरी-

क्षण-प्रिय है, अपनी छोटी भी त्रुटि के प्रति उदासीन नही है, अपने दोषो से लडते रहते है तो फिर ऐसे दु खो को सहन करने का वल मिलता रहेगा। तुम मेरे निकट विल्कुल स्वतंत्र हो, ऐसा समझकर सदा कहते और लिखते रहो। तुम असह्य दु.ख पाते रहो और मैं वेखवर रहूं, इससे मुझे अधिक क्लेश हो सकता है।"

: ९ :

सेवा का व्यसन

सेवा मौज-शौक की चीज नही है। यह सस्ती भी नही। वड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। पेट भरने और नाम कमाने के पीछे पड़नेवालो की गुजर इसमे नही हो सकती। इस मार्ग में अखीर तक वही टिक सकते है, जिन्हे सेवा का व्यसन हो गया हो। 'सर्वस्व स्वाहा' करने की तैयारी करके ही इसमें जो आगे कदम वढाते हैं उन्हे इसका सच्चा आनद मिलता है। ऐसे एक सेवक का उदाहरण मेरे सामने है। वह एक डाक्टर हैं। कुष्ठियो की सेवा-सुश्रूपा और चिकित्सा का काम उन्होने शुरू किया है। उनके घर के लोग उन्हे विवाह-पाश मे वाध देना चाहते हैं। उन्हे भय है कि फिर सेवा के आनंद मे त्रुटि होने लगेगी। उन्होने एक पत्र अपने वड़े भाई को लिखा, जिसके एक-एक अक्षर से उनकी सेवा की मस्ती टपकती है। उसका आवश्यक अंश पाठको के लाभार्थ यहां देता हूं :

"आप जानते है कि मैंने यहा कुष्ठ-निवारण का काम शुरू किया है। दिन-पर-दिन रोगियो की तादाद वढ़ती जा रही है। मैं भी उनके सपर्क मे आता हूं और मुझे उनकी छूत लग जाने का भी अदेशा रहेगा, फिर भी मुझे इसमें एक नये प्रकार का आनद अनुभव हो रहा है, जिसका वयान लिख-कर नही कर सकता। आप यह भी जानते हैं कि सच्ची सार्वजनिक सेवा करने की जिसे महत्वाकाक्षा हो उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए

और वैयक्तिक जीवन शुद्ध रखकर जितना कम हो सके अपना खर्च कम कर लेना चाहिए। इसीमें उसकी भलाई है। अपने व्यक्तित्व को समष्टि में जितना लीन कर सके उतना ही उसके लिए लाभदायी है।

"मैंने अपना सार्वजनिक जीवन एक शौक और कर्त्तव्य के रूप मे शुरू किया था। मुझे स्वप्न मे भी यह कल्पना नही थी कि वह इस प्रकार सेवा का रूप ले लेगा। और अब खूबी यह है कि वह मेरे लिए एक व्यसन बन रहा है। उसमे मुझे दु.ख मे भी सुख नजर आता है। जिस प्रकार शराबी को शराब का चस्का लग जाता है और छूटता नही, उसी प्रकार मै इस व्यसन को नही छोड़ सकता। मगर म तो देखता हू कि यह नशा शराब के नशे से भी ज्यादा है, क्योंकि इसके परिणाम मे कोई दु.ख नही है। इसकी जानकारी हरेक को रहती है। इस व्यसन मे वह खुमारी मालूम होती है, जो मर जाने पर भी अपना नशा चढ़ाती है।

"कल्पना कीजिये कि जो शख्स आपसे बहन···को छोड देने के लिए कहे तो वह आपको कितना अप्रिय लगेगा ? वैसी ही हालत मेरी होती है जब मुझे कोई सार्वजनिक सेवा से हटाकर वैयक्तिक जीवन की ओर ढकेलना चाहता है।"

४. समस्या

१. संसार की समस्या
२. हमारा अन्नदाता
३ हमारे पाप
४. सार्वजनिक और व्यक्तिगत संबंध
५. ईश्वर किनका है ?
६ सार्वजनिक चर्चा से लाभ
७ एकता की समस्या
८ हिंदू-जाति और नंग साधु
९ विवाद-युग
१० मालिक और मजदूर
११. दलबंदियों का मूल
१२. सिद्धांत नहीं, स्वभाव
१३ मजहबीराज या जनतंत्र ?

: १ :
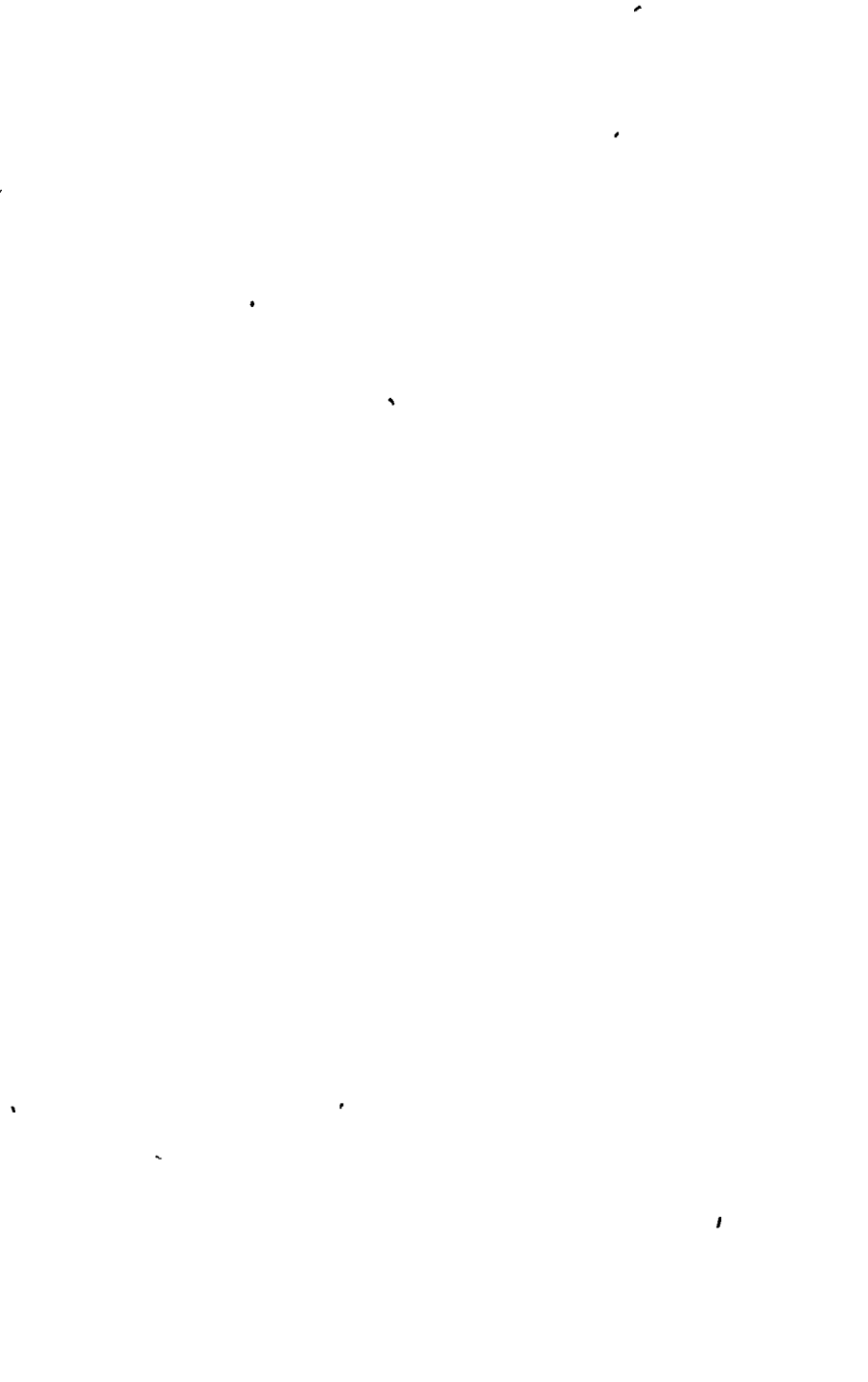
संसार की समस्या

मनुष्य सुख चाहता है। सुख की खोज में उसने कुटुंब बनाया, जाति बनाई, बडे-बड़े राज्य और राष्ट्रनिर्माण किये, असीम धन-वैभव जुटाया, आमोद-प्रमोद सौंदर्य के साधन एकत्र किये, पर सुख का स्वाद उसे न मिला। शरीर को सुख पहुंचानेवाली, इंद्रियो को तृप्त करनेवाली, मन को बहलानेवाली भोग-सामग्री में उसने शुरू-शुरू में सुख माना; परंतु ज्यो-ज्यो वह इन भोग-सामग्रियो की आराधना मे फसता गया, त्यो-त्यो सुख की चाह और मन की अशाति बढती गई और उसने भोग को छोडकर सुख का कोई दूसरा मार्ग खोजना चाहा। सम्राट् और चक्रवर्ती का राज-वैभव और शत्रु-संहार का सैन्य-वैभव जहा थक गया, कुबेर और कारू का धन-वैभव जहा हताश होगया, रति और कामदेव का शृंगार और सौंदर्य-वैभव जहा न पहुच सका, कवि और कलाकर जहा बीहड मे भटकते रहे, अर्थात् जिस समस्या को भोग-प्रचार करके न हल कर पाये, उसके लिए योगियो ने आगे कदम बढ़ाया। उन्होंने गहरा विचार करके देखा कि तमाम सांसरिक ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी मनुष्य दु:खी ही बना हुआ है। तब उन्होंने सुख के मूल की खोज शुरू की। उन्होंने सोचा कि मनुष्य आखिर क्यो दु:खी रहता है। इस नतीजे पर पहुचे कि मनुष्य इच्छाए तो बहुत करता है, अपनी आवश्यकताएं तो बहुत बढ़ा लेता है, इनमें तो बहुत स्वतंत्र है, परंतु अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए वह बहुत परतंत्र है। इससे उसकी बहुतेरी आवश्यकताएं और इच्छाएं अधूरी रह जाती है और इस कारण वह दु:खी बना रहता है। जब हर आदमी अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को बढाने लगता है तब उनमें परस्पर संघर्ष और कलह होने लगता है, क्योंकि एक की इच्छाएं और आवश्यकताए दूसरे की इच्छाओ मे बाधक होने लगती है।

फिर उन्होने देखा कि इच्छाओ और आवश्यकताओ का तो कोई अत ही नही है। मनुष्य जितनी चाहे वढा सकता है, और दूसरी बात यह कि उनकी तृप्ति के साधन मिलते रहने पर भी, अनेक भोगो को भोगने पर भी, मनुष्य अतृप्त और दुःखी ही रहता है। तव वे इस परिणाम पर पहुचे कि इच्छाओ और आवश्यकताओ की सीमा बाधे विना मनुष्य को सुख-शाति नही नसीव हो सकती, और यह अंतिम निर्णय कर दिया कि वासना का क्षय हुए विना मनुष्य को पूर्ण और अक्षय सुख नही मिल सकता। उन्होने कह दिया कि सुख भोग से नही, योग से ही मिल सकता है। मनुष्य भोग जितना कम और योग जितना अधिक करेगा उतना ही वह अधिक सुखी होगा। भोग के मानी है इच्छाओ और आवश्यकताओ की अमर्याद वढती और योग के मानी है मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ तक उनका सीमित रहना। मनुष्य की साधारण आवश्यकता क्या है? पेटभर स्वच्छ सादा भोजन, तनभर कपड़ा, रहने के लिए स्वच्छ हवादार मकान, वाल-वच्चो की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोपण आदि के लिए आवश्यक धन। इससे अधिक की इच्छा रखने या वस्तुओ का सग्रह करनेवाले को उन्होने चोर की उपाधि दी और अपरिग्रह को सुख का मूल सिद्धान्त निश्चय किया एवं अपरिग्रह के सिद्धांत पर समाज की रचना करनी चाही।

परतु इच्छाओ का त्याग और उससे घटकर अपरिग्रह की बात एकाएक मनुष्य को जची नही। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा भोग-सामग्रियो के वंटवारे की चेष्टा की गई। परतु भोग-लोलुपो की महत्त्वाकाक्षाओ ने उसको भी छिन्न-भिन्न कर दिया। तत्त्व-रूप से यद्यपि सुख की समस्या हल होगई, तथापि व्यवहार रूप मे वहु-जन-समाज के सामने वह अभी तक विना हल हुए ही खड़ी है। भारतवर्ष के जीवन में यद्यपि भोग की जगह सयम का भाव फैला हुआ नज़र आता है तथापि उनका सयम अकर्मण्यता और कायरता के कीटाणुओ से आक्रात होकर उनके दुःख का कारण वन रहा है। उनके संयम का फल तो होना चाहिए था अधिक सुख, अधिक स्वतंत्रता, परंतु आज दुनिया मे भारतवासी सवसे अधिक दुःखी और पराधीन वने वैठे है। सुख

का मूलमत्र जानते हुए भी भारतवासी उनका प्रयोग न जानने के कारण सुख से वंचित हो रहे है ।

इधर नई दुनिया के लोग भी सुख के लिए छटपटा रहे है । भारत जिस प्रकार सुख की शोध में पहले भोग की शरण मे पहुचा, फिर योग के चरणो में उसे सुख-शाति मिली, उसी प्रकार पश्चिमी ससार भी अभी भोग ही मे भटक रहा है । यद्यपि योग की किरणे वहातक जा पहुंची हे तथापि उनका प्रकाश अभी उन्हे आकर्षित नही कर सका है । भारतवर्ष के पास औषध है, पर वह प्रयोग भूल गया है, पश्चिमी दुनिया मे जीवन है, किंतु दिशा-भूल हो रही है ।

व्यावहारिक संसार के सामने आज यह भी समस्या खड़ी है कि समाज में सुख और शाति की वृद्धि किस तरह हो । जातियो और राष्ट्रो मे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के भाव प्रबल हो रहे है और युद्ध का खतरा निरतर बना ही हुआ है । एक ओर साम्राज्यवाद अपने नये-नये रूप पलट-कर सामने आता है तो दूसरी ओर कम्यूनिस्ट अलग अपनी समाज-रचना की योजना लिये फिरते है । एक कहता है, सारा शासन-यंत्र जबतक एक-सूत्र से सचलित न होगा तबतक समाज मे सुख-शाति स्थापित न होगी । दूसरा कहता है, जबतक संपत्ति का बटवारा समान रूप से न होगा तब-तक समाज से कलह दूर नही हो सकता । प्रजावादी कहते है, जबतक प्रजा के मत से समाज और राज्य का काम न चलेगा तबतक समाज की उन्नति नही हो सकेगी । तात्पर्य यह कि भौतिक पदार्थो में ही अबतक दुनिया सुख की शोध कर रही है । जहातक मेरी बुद्धि पहुंच पाई है, मुझे साम्यवादियो का दल भौतिक दृष्टि से सुख और सुव्यवस्था के अधिक नजदीक मालूम होता है । दुनिया मे सुख प्राप्त करने के जितने साधन है वे सबके लिए समानरूप से सुलभ होने चाहिए । चाहे अमीर हो या गरीब, स्त्री हो या पुरुष, सभ्य हो या असभ्य, जीवन की साधारण आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए सबको समान रूप से सुविधा होनी चाहिए । केवल धन, सत्ता या विद्या के बल पर जब किसीको विशेष सुविधा मिलने लगती है और जब

उसे वह अपना अधिकार समझने लगता है तभी समाज में कलह उत्पन्न होता है। बलवान् और निर्बल ये दो वर्ग निर्माण होने लगते हैं और बलवान क्रमशः निर्बल को निगलते जाते हैं। आज दुनिया मे यही हो रहा है और इसीलिए विश्व समाज की शाति के लिए चिंताशील नजर आता है। मेरा यह विश्वास है कि निकट भविष्य मे ससार को साम्यवादियों का यह हल मानना पड़ेगा, क्योकि मनुष्य की बुद्धि और तर्कशक्ति का उससे समाधान हो जाता है और उसमें अधिकाश लोगो का अधिक हित छिपा हुआ है।

फिर भी यह हल मेरी दृष्टि मे एकागी है। एक हद तक समाज का हित-साधन इससे होगा। जहातक सुख-सामग्री के बटवारे की वर्तमान प्रथा मे दोष है वहातक तो यह हल काम दे देगा; पर संपत्ति और सुख-सामग्री को बढाने की अभिलाषा उससे शात न होगी। आज निर्धनो और धनवानो, वैभवशालियो और दीन-दुखियो में, राजा और रक मे जो विशाल खाई पड गई है वह इससे अवश्य बहुत-कुछ भर जायगी, यह द्वेष बहुत-कुछ कम हो जायगा, परतु साथ ही धनैश्वर्य की प्रतिस्पर्द्धा बहुत-कुछ बढ़ भी जायगी। जबतक सुख-भोग का कोई सीमित आदर्श समाज के सामने नही रखा जायगा, तबतक प्रतिस्पर्द्धा और वर्ग-कलह से समाज को बचाना, असंभव है। यह सीमा दो प्रकार की हो सकती है—(१) मनुष्य अपने शारीरिक श्रम से जितना उपार्जन करे उतना ही सुख-भोग वह कर सकता है। (२) मनुष्य की साधारण आवश्यकताए निश्चित कर ली जायं और उससे अधिक परिग्रह करने का किसीको अधिकार न रहे। दोनो मे मनुष्य से सयम करने के लिए कहा गया है। पहली बात कृत्रिम बंधन-सी पर अधिक व्यावहारिक है। वह मनुष्य की इच्छा की मर्यादा नही बाधती, व्यवहार मे ऐसी शर्त लगा देती है कि अधिक इच्छा करते हुए भी मनुष्य अपने-आप उसकी पूर्त्ति नही कर सकता, किंतु मनुष्य बार-बार इच्छा करते हुए भी जब इस शर्त के कारण उसको पूरा न कर पावेगा, तब इस शर्त को तोडने की उसकी इच्छा प्रबल हो उठेगी और आगे चलकर यह शर्त ठहर न सकेगी। इसके विपरीत दूसरी

वात मनुष्य की इच्छा को ही नियन्त्रित कर देती है। वह उसके सामने ऐसा आदर्श उपस्थित करती है कि मनुष्य अधिक अच्छा करना ही बुरा समझने लगता है। इसलिए मेरी राय में यह उपाय अधिक स्थायी और अधिक फल-दायी है। हा, पहली सामाजिक व्यवस्था चालू हो जाने पर दूसरे आदर्श का प्रचार सुलभ हो सकता है। यह भी एक मत है कि समता की ऐसी व्यावहारिक जीवन-विधि विताते-विताते स्वत भी सादगी की भावना उदय हो सकती है। साम्यवादियो की समाज-व्यवस्था में, जहातक मैंने समझा है, अभी इसके लिए स्थान तजवीज नही हुआ है, शायद उनका समाज-शास्त्र अभी इस परिणत अवस्था को नही प्राप्त हुआ है। वे समानता के सिद्धात तक तो पहुच गये हैं, अपरिग्रह या संयम के सिद्धात तक पहुचना अभी वाकी है। यदि वे सचमुच वैज्ञानिक समाज-शास्त्री हैं, तो उन्हे भोग को छोडकर योग पर आना पडेगा, इसमे मुझे तिलमात्र सदेह नही है।

कुछ मित्र कहते हैं कि भोग से पुरुपार्थ और कर्मण्यता की वृद्धि होती है और योग से ससार के प्रति उदासीनता और उसके फलस्वरूप अकर्मण्यता वढती है। मेरी समझ मे यह भ्रम है। भोग से पुरुपार्थ की नही, स्वार्थ की वृद्धि होती है, जिसका अत होता है या तो विलासिता में या अत्याचार में, और दोनो का अतिम फल होता है घोर पतन। योग मे जो उदासीनता आती है वह ससार के प्रति नही, वल्कि अपने स्वार्थ के प्रति होती है, जिसका पर्यवसान होता है सेवा-भाव की वृद्धि मे। सच्चे योगी की कसौटी ही यह है कि उसका एक-एक क्षण दीन-दु:खी, पीडित-पतित की सेवा में व्यतीत होता है। भारत ने योग-मार्ग का अनुसरण तो किया, किंतु कर्मण्यता को भुला दिया, इससे वह निर्जीव और नि:सत्त्व हो गया। जीवन का दूसरा नाम है कर्म। अपने लिए जो कर्म किया जाता है, उससे आसुरी जीवन वढ़ता है, दूसरो के लिए जो कर्म किया जाता है उससे दैवी जीवन मिलता है। कर्म-हीन जीवन वृथा है। मेरी राय में निकम्मा मनुष्य पशु से भी गया-वीता है।

सुख के मूल को फिलहाल यदि एक ओर रख दे और फिर विश्व की

वर्तमान समस्या का विचार करें, तो वह उतनी राजनैतिक नही मालूम होती जितनी कि आर्थिक है। पिछले जमाने की तरह आज राज्य और साम्राज्य केवल दिग्विजय के लिए अथवा चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के लिए नही रहे। राजसत्ता आज ध्येय से हटकर साधन वन गई है। नित-नये भोगो की चाह दुनिया में वढ़ रही है। बिना धन और ऐश्वर्य के उसकी पूर्त्ति नही हो सकती। धन विना व्यापार-उद्योग और कल-कारखाने के नही मिल सकता। बड़े-वडे व्यापार-धधों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए राजसत्ता की आयोजनाए हम देख रहे हैं। ससार मे आज वह राज्य प्रवल है, जिसके पास कच्चे माल के साधन विपुल है और तैयार माल की विक्री के लिए विशाल वाजार है। जिन देशो मे कच्चे माल की वहुतायत है और तैयार माल की विक्री का वड़ा वाजार है, उनपर सव देशो की ज़हरीली नज़र गडी हुई है। भारत ऐसे देशों में सवसे वड़ा नही तो एक विशाल देश अवश्य है। ब्रिटेन के व्यापारी इसीलिए उसे चंगुल मे रखे हुए थे।

यह कहना शायद गलत न होगा कि इस अनियंत्रित भोग-तृष्णा का ही एक फल है वर्तमान साम्यवाद। साम्यवाद यद्यपि सारे समाज की भोग-तृष्णा पर प्रहार नही करता है तथापि धनैश्वर्य में वढ़े-चढे लोगों को वह सयम का पाठ अवश्य पढाना चाहता है। तात्त्विक जगत् में जिस प्रकार संयम या अपरिग्रह ही समाज के सुख का मूल सिद्धात है उसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में शारीरिक श्रम का सिद्धात उच्चकोटि का है। शारीरिक श्रम ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा सपत्ति एक जगह एकत्र नही हो पाती, जगह-जगह यथेष्ट मात्रा में वंट जाती है। आजकल उद्योग-धधे और कल-कारखाने शारीरिक श्रम के सिद्धात पर नही, वल्कि धन के प्रभाव पर चल रहे है, इसलिए मुनाफे का वंटवारा श्रम के लिहाज़ से नही, वल्कि शेयरो के लिहाज़ से होता है और यही मूल है असमान वटवारे का। अतएव यदि बड़े-वडे कल-कारख़ाने और उद्योग-धधे समाज के लिए अभीष्ट और अनिवार्य है, तो मुनाफे के वटवारे की वर्तमान पद्धति मे अवश्य सुधार करना पड़ेगा। पर यदि हम अपने भोगों की एक सीमा वाध ल और मनुष्य की शक्ति का पहले

उपयोग करके फिर, उसके कम पड़ने पर, भाप या विजली की सहायता ले तो समाज की विपमता और वेकारी दोनो का सवाल आसानी से हल हो सकता है। वड़े-वड़े कल-कारखानो की कल्पना उन्ही देशो में उदित और विकसित हुई है जहां मानव-शक्ति कम थी। भारतवर्प जैसे देश में जहा करोड़ो लोगो को साल में छः महीने वेकारी में विताने पड़ते है, वड़े-वड़े कारखानो को खड़ा करना मानव-शक्ति का तिरस्कार करना है और उस-पर भी मुनाफे के वंटवारे मे विपमता से काम लेना तो मानो करेले को नीम पर चढाना है। कितने आश्चर्य की वात है कि अपनी भोगेच्छा को तनिक संयम में रखना मनुष्य को, शिक्षित मनुष्य को, कठिन वात मालूम होती है, और दुनिया-भर की आसुरी महत्त्वाकाक्षाए और उनकी सिद्धि के लिए उचित और अनुचित सव प्रकार के भगीरथ प्रयत्न उसे आसान मालूम होते है।

साराश यह है कि दुनिया सुख की शोध मे है। सयम, अपरिग्रह अथवा इच्छाओ का नाश मुख का मूलमत्र है। परतु इसकी साधना उसे कठिन मालूम होती है। वह सरल उपाय चाहती है। साम्यवादियो ने सपत्ति के समान वटवारे का हल उसके सामने रखा है। एक हद तक वह ससार की विपमता कम कर सकेगा। यदि शारीरिक श्रम के मार्ग को समाज स्वीकार कर ले तो समानता के सिद्धांत की अपूर्णता कम हो सकती है। इस दृष्टि से विश्व की प्रधान समस्या आज साम्पत्तिक है, राजनीति तो उसका अंग-मात्र है। कल-कारखाने इसे हल नही कर सकते। श्रम-धर्म या मानवी-शक्ति ही इसका एकमात्र उपाय है। ऐ उलटी दुनिया, जडता को छोडकर चैतन्य की पूजा कर।

: २ :

हमारा अन्नदाता

किसान हमारा अन्नदाता है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही, और कम-से-कम भारत में हम इस वात को भी प्रत्यक्ष देख रहे है कि आज वहुसख्यक होते हुए भी सवसे अधिक दीन-हीन, दुखी, पंगु और दवे हुए यदि कोई है तो वे हैं हमारे ये अन्नदाता ही। इसका कारण क्या है? उनकी अविद्या, अपने अधिकारों, अपनी आवश्यकताओ, अपनी असुविधाओं और अपनी परिस्थिति का अज्ञान। भारत मे पिछले आर्यो और हिंदुओ के जमाने में तो राजा-प्रजा पिता-पुत्र के आदर्श को मानते थे, राजा लोग स्वय चाहे आपस में लड़ते रहे हो और भोग-विलास में भी कोई-कोई अपने ऐश्वर्य को स्वाहा कर देते हो, परंतु अगरेजी राज की तरह प्रजा को——किसानों को लूटने और वेवस वनाये रखने की नीति प्रचलित करने का पाप उन्होंने नही किया था। मुसलमानो के समय में धर्म की वृद्धि के लिए चाहे जुल्म-ज्यादती हुई हो, पर केवल लूटने और चूसने की आसुरी नीति के शिकार ये किसान उस समय भी न हुए थे। हिंदुस्तान में तो अगरेजो के जमाने मे किसानो की जो तवाही और वरवादी हुई, वह इतिहास में कही न हुई होगी। रूस में जारशाही का नामोंनिशान मिटकर आज जो किसानो का राज्य क़ायम हो गया है, उसका कारण जार की लूट और जोरो-जुल्म की नीति ही है।

अंगरेजी शासन में किसानो के आदोलन वरावर होते रहे है। चंपारन में भी निलहे गोरो के खिलाफ किसानो ने आदोलन किया था और महात्माजी के नेतृत्व मे उनके कष्ट दूर हुए। खेडा, वोरसद, और वारडोली मे भी किसानो को सत्याग्रह करना पडा और अंत में सरकार को अपनी हार-माननी पड़ी। वारडोली की विजय ने तो एक तरह से ब्रिटिश सरकार की जड को ही हिला दिया था। उसने इस वात पर अच्छी और गहरी रोशनी डाल दी थी कि एक तो सरकार किस तरह हर वंदोवस्त मे लगान वढ़ाती चली जाती थी और दूसरे उसकी मदाधता किसानो की न्याय-युक्त और

उचित बात को सुनने के लिए भी सहसा तैयार नही होती थी। जबसे महात्मा गांधी भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरे तभीसे उन्होने किसानों के दु.खो की ओर ध्यान दिया और कांग्रेस का भी ध्यान ग्राम-संगठन की ओर बहुत-कुछ खींचा। चरखा-संघ, यदि किसी समाज की सेवा के लिए, स्थापित हुआ है तो यह है हमारा अन्नदाता-समाज ही। हमें तो अपनी सारी शक्ति किसान-सेवा में ही लगा देनी चाहिए। तो हम इस बात पर विचार करे कि किसानो के दुःख क्या है और वे कैसे दूर हो सकते हैं। उनके दुःखो को हम इतने भागो में बांट सकते है—(१) राजनीति, (२) कृषि, (३) शिक्षा और (४) स्वास्थ्य-संबंधी। सामाजिक और आर्थिक दु.खो का समावेश इन्हींमें हो जाता है।

१. राजनीतिक दुःख:

भारत के स्वाधीन होने से अब बालिग मताधिकार होगया, इससे देश की राजसत्ता में उनकी आवाज होगई। परंतु यह काफी नहीं। प्रचीन समय में हर गांव प्राय. स्वतंत्र था—लगान दे देने के अलावा गांव के सारे शासन-प्रबंध की जिम्मेदारी गांववालो पर ही थी। आज तो किसान हम लोगों के लिए अन्न पैदा करने की मशीन रह गया है। यद्यपि किसान आज जमीन का मालिक हो गया है तो भी वह नाम-मात्र का है। आज भी उनमें यह भाव नही आ पाया है कि वे भारत के उसी प्रकार एक प्रतिष्ठित नागरिक है जैसे कि कोई लोक-सभा का सदस्य या मंत्री। यद्यपि आज किसानों को बहुत हक दे दिये है फिर भी मेरी राय में किसानो की राजनीतिक स्थिति सुधारने के लिए इतनी बाते होनी चाहिए—

(१) सभी जगह यह करार दिया जाय कि जमीन का मालिक किसान है और सरकार को वह जो कर या लगान देता है, वह सरकार का हक नही है, बल्कि सरकार का खर्च चलाने का आंशिक बोझ है, जो उसे कर्तव्य समझकर उठाना चाहिए।

(२) कर या लगान किस हिसाब से लिया जाय, इसका निर्णय किसानो के प्रतिनिधियो द्वारा हो।

(३) गांव के भीतरी प्रबंध मे किसान स्वतंत्र हों। गांव की जो पंचायत हो वही गाव की सब व्यवस्था की जिम्मेदार रहे।

जमीन का मालिक राज्य (स्टेट) रहे या किसान, इसके संबंध मे दो मत है। एक मतवालो का कहना है कि जमीन राज्य की है और किसान तो उसके जोतने का किराया देता है। किराया घटाना-बढाना मालिक की मर्ज़ी पर है--किसान का जी चाहे, जमीन जोते, जी चाहे, न जोते। दूसरे पक्षवालो का कहना है कि जमीन किसान की है। वह मेहनत करता है, उसे जोतता-बोता है, इसलिए उसकी है। सरकार तो अपने खर्च के लिए थोडा-सा कर उससे ले लिया करे। जमीन राज्य की है--इस सिद्धात को मानने मे तब तो कोई आपत्ति न होगी जबकि सारा राज्य वास्तविक अर्थ मे जनता का हो जाय, पर जहा राजा कोई एक व्यक्ति हो, अथवा ऐसा व्यक्ति-समूह हो, जो अपने लाभ के लिए राजकाज करता हो वहां ज़मीन का मालिक राज्य को मानना अनुचित है। जबतक जनता यह अनुभव नही करने लगती कि राज्य हमारा और हमारे हित और सुख के लिए है तबतक ज़मीन पर किसान का ही स्वामित्व रहना चाहिए—और ऐसी अवस्था तबतक नही आ सकती जबतक राज्य (स्टेट) मे किसी सत्ता-धारिणी संस्था (गवर्नमेंट) की आवश्यकता रहेगी और वह अपनी सत्ता के बलपर राज-काज करेगी। जबतक जनता को यह अनुभव होता रहेगा कि कोई बाहरी शक्ति हमपर अंकुश रख रही है तबतक राज्य के साथ वह एक-रस नही हो सकती और जबतक एक-रस न होगी तबतक जमीन का मालिक राज्य को बनाने से सिवा सत्ताधारियो के लाभ के और सबका हित ही है। इससे मैं तो इस नतीजे पर पहुंच रहा हूं कि अभी तो सैकड़ो बरसो तक समाज मे किसी-न-किसी रूप में सरकार की आवश्यकता रहेगी और इसलिए जमीन का मालिक किसान को ही रहना चाहिए।

२ कृषि-संबंधी दुःख

कृषि-संबंधी दुःख भी कम नही है। अंग्रेजी सरकार लगान तो भरपेट लेती रही पर पैदावार बढाने और उसमें सहायक होने का यथोचित ध्यान

नही रखती थी। अब हमारी सरकार भिन्न-भिन्न योजनाओं द्वारा उपज बढाने की ओर पूरा ध्यान दे रही है। कृषि-विज्ञान के आचार्यो का कहना है कि भारत में भूमि की उर्वरा-शक्ति दिन-दिन कम होती जा रही है। गोवर, जो खाद के काम में लाया जाना चाहिए, ईंधन के अभाव में, जलाने के काम आता है। सरकार को इसकी रोक का उपाय करना चाहिए। बाहर के देशो के साथ खुला व्यापार करने की नीति के कारण हिंदुस्तान का सारा अनाज दूसरे देशो को चला जाता है--किसान के घर में कुछ नही बचता, उसका जो मुनाफा होता है वह बीचवाले छोटे-बडे व्यापारी चाट जाते है और बदले में विदेश से आनेवाली तरह-तरह की गैरजरूरी चीजे उसके घर में जाती है, जिससे पैसा बरबाद होता है। इसका फल यह हुआ कि दूसरे देशो में, जैसे इंगलैंड, जहा पहले अनाज के अभाव से अकाल हुआ करते थे वहां तो विपुल अनाज पहुंच जाने से अकालो का होना असंभव हो गया; परतु भारत में अकालो की संख्या बढ़ती जाती है। मेरी राय मे कृषि-सुधार के लिए इतनी बाते अवश्य होनी चाहिए :

(१) गोवर के कंडे वेचना वंद कराके उसका खाद खेतो में पहुंचाना चाहिए तथा और भी अच्छे खादों के द्वारा भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ानी चाहिए।

(२) किसानो के लिए यह नियम कर दिया जाय कि वे बीज और कम-से-कम डेढ़ साल तक चलने लायक अनाज और रुई अपने घर मे रख-कर शेष अनाज वेचे।

(३) लगान की बढी हुई दरें कम की जायं।

(४) कई तरह के अवबाव, सामाजिक कुप्रथाओ और दुर्व्यसनो तथा साहूकारो की लोभ-नीति के कारण किसान अकसर कर्जदार बने रहते थे। अब इसमे कुछ सुधार जरूर हुआ है। कोआपरेटिव सोसायटियो के ज़रिये उन्हे तरह-तरह के लाभ पहुचाने का यत्न हो रहा है। फिर भी किसानो के हित को ही मद्देनजर रखकर सेवा-भाव से ऐसी सोसायटियों का काम चलना चाहिए और सेवा-परायण लोगो का समावेश उनमें होना चाहिए, न कि

पेट भरने की नीयत से जाने वाले लोगों का।

(५) गाय और बैलो के पालने के लिए काफी चरागाह रखे जायं, दूध-शालाओ और चर्मालयो के प्रश्न को हाथ में लिया जाय।

(६) फुरसत के वक्त कोई हाथ-धधा उन्हे अवश्य मिलना चाहिए। यो रस्सी बनाना, गाड़ी, बैल, ऊट किराये पर देना, ईंधन की लकडी बेचना, ऐसे ही काम किसान फुरसत के वक्त करता रहता है, परंतु इन सबसे बढ़-कर काम है रुई का कातना, पीजना और धुनकना। दोनों काम एक घर मे होने से आमदनी भी काफी होती है और इसमे न बहुत रुपया लगाना पड़ता है, न बड़ी अक्ल की जरूरत होती है और लोग इन कामो से परिचित भी है। एक किसान की औसत आमदनी ३०) रु० साल से अधिक नही है। इतनी ही आमदनी और, वह कताई-पिंजाई-धुनाई से भी बड़े मजे में कर सकता है। अब तो अंबर चर्खे के आविष्कार से उसकी आमदनी और भी ज्यादा हो सकती है।

३ शिक्षा

शिक्षा का तो पूरा अभाव किसानो मे है। यो सस्कारिता और सदाचार मे किसान शिक्षित कहलानेवाले आजकल के बहुतेरे लोगो से बढ़ जाते हैं, पर अक्षरज्ञान के अभाव से उन्हे कम कष्ट नही उठाना पड़ता है। दुनिया के रुख और हालात से, कानून तथा देश की हलचलो से नावाकिफ होने के कारण चीजो की खरीद-बिक्री, मामले-मुकदमे, धर्म-कर्म की ऊपरी बातो आदि मे उन्हे बहुत नुकसान उठाना पडता है। इसके लिए किसानो मे प्रारंभिक शिक्षा का होना बहुत जरूरी है। साथ ही कृषि, पशुपालन, देहात की बीमारियो के इलाज और देश की साधारण राज्य-व्यवस्था, हिसाब-किताब आदि की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। किसान न केवल अपाहिज हैं, बल्कि शिक्षा के अभाव मे अधे भी है। हमारी सरकार का ध्यान इधर गया है, रात्रि-पाठशालाओ के द्वारा इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न होने लगा है।

४. स्वास्थ्य

स्वास्थ्य-सबंधी बातो से अनभिज्ञ होने के कारण गदगी की बुराइयो को नही देख पाते। गाव के पास ही कूड़ा-करकट रखना, गाव की गलियो में ही टट्टी-पाखाना बैठ जाना, बीमारियो मे इलाज का कोई प्रबंध न होना, देहात में मामूली बात देखी जाती है। अतएव एक ओर जहां स्वास्थ्य और बीमारियो का ज्ञान उन्हे कराना आवश्यक है वहा दूसरी ओर बीमारियो के इलाज का भी इंतजाम होना चाहिए। अंग्रेजी दवाएं (एलोपैथिक) वहा बहुत महगी पड़ती है—देशी या होम्योपैथिक दवाएं बहुत सस्ती पड़ती है और इन्हीका उपयोग होना चाहिए। ज्वर, फोडे-फुसी, आख और पेट का दर्द, साप-बिच्छू का काटना, हाथ-पाव मे चोट आ जाना, ये देहात की खास-खास बीमारिया है और हर बड़े गाव मे इनके लिए दवा का प्रबध अवश्य होना चाहिए।

: ३ :

हमारे पाप

जिस कार्य से व्यक्ति और समाज को दु ख पहुचता है, उनकी हानि होती है, उसे पाप कहते है और जिस काम से उन्हें सुख मिलता है, उनका लाभ होता है, उसे पुण्य। जिस काम से केवल व्यक्ति की हानि होती है वह व्यक्तिगत पाप, जिससे समाज की हानि होती हो उसे सामाजिक पाप और जिससे राष्ट्र को नुकसान पहुंचता है वह राष्ट्रीय पाप है। पाप का फल अधोगति के सिवा दूसरा नही हो सकता। इसलिए पाप करने की स्वाधीनता मनुष्य को नहीं दी गई है। फिर भी व्यक्तिगत पाप करने में मनुष्य जितना स्वाधीन हो सकता है उतना सामाजिक पाप करने में नही, और जितना सामाजिक पाप करने मे वह स्वतत्र समझा जा सकता है उतना राष्ट्रीय पाप करने में नहीं, क्योकि व्यक्तिगत पाप के फल से स्वयं उसकी

अपनी हानि होती है, लेकिन सामाजिक और राष्ट्रीय पाप से सारे समाज और राष्ट्र को हानि पहुचती है। जैसे मैले कपड़े पहनना, या कच्ची रोटी खाना, व्यक्तिगत पाप है क्योकि इससे जो बीमारी पैदा होती है उसका फल-प्रधानत. उस व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परतु व्यभिचार एक सामाजिक पाप है, क्योकि, इससे सारे समाज की जड खोखली होती है। इसी प्रकार विदेशी वस्तु का व्यवहार राष्ट्रीय पाप है, क्योकि, इससे राष्ट्र मे दुर्बलता आती है। ज्यो-ज्यो मनुष्य के बुरे कर्मो का फल अधिकाधिक लोगो को भोगना पड़ता हो त्यों-त्यो उनके बुरे कामो की स्वतत्रता कम होती जाती है। मनुष्य ने ही अनेक प्रकार के अनुभवो और व्यवहारो को देखकर अच्छाई और बुराई के अनेक नियम बना दिये है, जिन्हे हम पाप या पुण्य अथवा नीति और अनीति के नियम कहते है। ये इस उद्देश्य से बनाये गये है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हो, उन्हे सुख पहुचे, वे पूर्णता को प्राप्त करें। इन नियमो की सबसे श्रेष्ठ कसौटी यह है कि मनुष्य खुद स्वतंत्र और सुखी रहे, परतु दूसरे की स्वतंत्रता और सुख मे उसके कारण कमी न हो। अर्थात् मनुष्य न केवल अपनी स्वतंत्रता और सुख की रक्षा करे, बल्कि दूसरे की सुख-स्वतंत्रता की भी उतनी रक्षा करे, इसीका नाम है संयम। संयम स्वतंत्रता का मूल है। जो मनुष्य जितना ही अधिक सयमी होता है वह उतना ही अधिक स्वतंत्र हो सकता है, क्योकि वह जितना ही अधिक औरो के सुख, सुविधा और स्वतत्रता का विचार रखेगा उतना ही दूसरे उसके सुखादि का खयाल रखेगे और इससे उसकी स्वतत्रता अपने-आप बढ़ जाती है। संयम-हीन स्वतत्रता उच्छृङ्खलता और अंत को अत्याचार मे परिणत हो जाती है और उसका आगे चलकर परिणाम होता है यह कि मनुष्य को अपनी सारी स्वतत्रता खो देनी पडती है।

स्वाधीनता मे मनुष्य पाप कम करता है, पराधीनता मे अधिक। क्योकि स्वाधीनता मे मनुष्य का जीवन उतना आत्म-हीन नही होता, जितना पराधीनता मे होता है। स्वाधीनता में भले-बुरे की जिम्मेदारी खुद उसी-पर होती है, पराधीनता मे दूसरे पर। मनुष्य पाप तब करता है जब पुण्य

करते हुए उसे हानि होने लगती है। जव सच बोलने से हानि होती है, तो मनुष्य झूठ बोलकर लाभ उठाने की चेष्टा करता है। जव न्यायोचित साधनो द्वारा मनुष्य अपनी आकाक्षाओ की पूर्त्ति नही कर पाता, तव वह वुरे मार्ग का अनुसरण करता है। यदि किसी समाज में युवको को कन्याएं न मिलती हो, विधवाओ को जवर्दस्ती विवाह से रोका जाता हो, तो वहां व्यभिचार फैलना स्वाभाविक होजाता है। जिस राज्य मे कृत्रिम वंधनो द्वारा मनुष्य इस तरह जकड दिया गया है कि उसे सच वोलने तक मे भय मालूम होने लगता है तव उसमे उस राज्य को उखाड़ फेंकने के भाव प्रवल होने लगते हैं। मनुष्य पाप दो कारणो से करता है—एक तो संयम का महत्व न समझने से, अर्थात् दूसरो की स्वाधीनता और सुख का खयाल न रखने से, और दूसरे अपनी स्वाधीनता के अपहरण से, अर्थात् अपने न्यायोचित अधिकारो के अनुसार वर्तने की सुविधा न रहने से। दोनो वातो का एक ही निष्कर्ष निकलता है कि स्वतत्रता के अपहरण से मनुष्य पाप मे प्रवृत्त होता है। जिसकी स्वतंत्रता छीन ली गई है, वह भी पाप करने लगता है और जो स्वतत्रता का अपहरण करता है, वह भी पापी हो जाता है। पीडित और पीड़क दोनो पापी होते हैं। पीडित भयभीत रहता है, इसलिए गुप्त पाप करता है। पीड़क उद्धत होता है, इसलिए अत्याचारी वनकर विधान और कानून के नाम पर पाप को पुण्य का रूप देकर पाप करता है। पीड़ित की आत्मा दव-दवकर पाप करती है, पीड़क खुल-खुलकर पाप करता है। पीडित एक समय के वाद जागरूक होता है और साहस एकत्र करके पीड़क के खिलाफ वगावत पर उतारू हो जाता है; पर पीड़क पीडित और पतित होने के पहले सहसा नही उठ पाता। पीड़ित पापी सहसा उठ सकता है; पीडक पापी नही। अत. कहते हैं, पीडक वनने से पीड़ित वनना कहीं अच्छा है। पर सच पूछिये तो पीड़क और पीडित दोनो वनना, या वने रहना, पाप है। पीडित वने रहकर मनुष्य खुद अपने प्रति पाप करता है, वल्कि, पीड़क को पीडक वना रहने देकर, उसके पापो मे सहायक होता है। इस दृष्टि से दुहरा पापी है। गुलामी सवसे वड़ा पाप है।

भारत दुनिया मे सबसे बडा पापी था, क्योकि वह सबसे बड़ा गुलाम था। दुनिया के इतिहास मे ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता कि इतना बडा विशाल देश इतनी सदियो से गुलाम बना रहा हो और चारो तरफ़ से इतना जकडा हुआ हो कि कही से भी निस्तार की गुजाइश न हो। बडो-बडो की अकल गुम हो रही थी। अब गुलामी तो नही रही फिर भी पाप का प्रश्न तो बना ही हुआ है। पाप की व्याख्या बदल गई हो--पर पाप तो पाप ही है। जब मिस मेयो ने हमारे कुछ पापो के नाम गिनाये तो हम बिगड़ पडे और उसे कोसने लगे। 'अबलाओ का इन्साफ' देखकर उस पर घृणा प्रकट करने लगे। पर जबतक उनमे लिखी आधी बाते भी सही है, और हम उन बुराइयो को दूर करने के लिए प्राण-पण से उद्योग नही करते, तबतक हम अपने पापो से कैसे छूट सकते है ? अबलाओ के इन्साफ की बातों पर मुझे सहसा विश्वास नही हुआ, पर एक मित्र ने कहा--"ये सब बुराइयां मैं राजपूताने के किसी भी एक ही नगर मे दिखा सकता हू।" एक मित्र ने कहा--"उपाध्यायजी, आपने अभी राजपूताने के देहातो को नही देखा है। शहरो की बुराइयो से हम देहात का अंदाज़ नही लगा सकते।" यह लेख मैं एक देहात मे बैठकर लिख रहा हूं, जोकि रेलवे-स्टेशन से बीस मील दूर है। इस तरफ़ के ब्राह्मण-वैश्यो के घर की कथाओ और लीलाओं को सुनता हू, तो सिर चक्कर खाने लगता है। घर और कपड़ो की स्वच्छता तो मानो इनसे डरती है। इधर बारह-चौदह वर्ष के लड़कों की शादी करने का आम रिवाज है। लड़कियो की उम्र लडको से बहुधा बराबर या बड़ी अच्छी मानी जाती है। विधवाएं मानो गुडो और व्यभिचारियो की संपत्ति समझी जाती है। घर ही मे अनर्थ होते देखे जाते है। पच्चीस फीसदी विधवाएं भी साफ-पाक नही मानी जाती है, बाल-विधवाओ की संख्या अब भी कम नही हुई है। गर्भपात की बाते आएदिन कानो पर आती रहती है। अब तो यह पहले जैसा भीषण पाप भी नही माना जाता !

इसी गांव के संबंध की कुछ ऐसी बीभत्स घटनाएं मै जानता हूं, जिन्हे

देखकर मनुष्य का सिर नीचा हो जाता है और हिंदू-धर्म की छाती पर तो वे मृत्यु-प्रहार ही के समान हैं। पर उनसब बातो का उल्लेख करके मैं दूसरा 'अबलाओं का इन्साफ' लिखना नही चाहता। जिसके आंखें, हृदय और बुद्धि हैं, वे ऐसी घटनाए देखकर चुप नही बैठ सकते। जो लोग इनकी ओर आखें मूदे हुए हैं उनसे मैं कहूंगा कि इस तरह ठंडे दिल से अपना और अपनी जाति का सर्वनाश न करो। इन पापो की ज्वाला तुम्हे जड़-मूल से भस्म कर देगी। जिन लोगो ने इन बुराइयो को नीति-अनीति के दायरे से उठाकर कुदरत के कानून के दायरे में ला रखा है, उनसे मै कहता हूं— कामाधता की वेदी पर मनुष्य-जाति के कई सद्गुणो और सद्भावो की आहुति क्यो करते हो? जो धीमे सुधारक है, उनसे कहना चाहता हूं कि बुराई यदि सचमुच बुराई है तो फिर उसे एकाएक निकाल डालने मे हिच-किचाहट क्यो? परदा यदि बुराई है और परदे में यदि कई बुराइया छिपी रहती है, तो घर के बडे-बूढो के लिहाज से उसे हम कबतक सहन करते चले जाय? जाति और राष्ट्र की बर्बादी की ओर हम देखें, या बडे-बूढ़ो की नाराजगी की ओर? समष्टि के हित के सामने क्या हमें व्यक्ति की कल्पित प्रसन्नता को खो देने के लिए तैयार न रहना चाहिए। हमारी सहृदयता क्या तकाजा नही करती कि हम समाज की विधवाओ की रक्षा, सधवाओ के सतीत्व की रक्षा और नवयुवको को ऐसी मानसिक यातनाओ से बचाने के लिए अपनी व्यक्तिगत असुविधाओ को ताक पर रखकर उनके लिए दौड़ पड़ें?

धनिको और रईसो में व्यभिचार का कारण है विषय-तृष्णा के कारणो की बहुलता और उसकी तृप्ति के साधनो की कमी, मध्यमवर्ग के लोगों की व्यभिचार-प्रवृत्ति का कारण है दरिद्रता। एक बडे राज्य के चीफ मेडि-कल आफीसर ने उस दिन कहा कि आम लोगो के व्यभिचार के मूल कारण की खोज में जो मैं निकला तो पता लगा कि आमदनी की कमी और आवश्यकताओ की वृद्धि इसका मुख्य कारण है। 'बुभुक्षित. किन्न करोति पाप'—दरिद्रता अनेक अनर्थों की जड़ होती है। भारतवर्ष मुसलमानो के

समय मे चाहे पराधीन हो गया हो, पर दरिद्र नही हुआ था। लेकिन अंग्रेजी राज्य मे तो सोलह आना पराधीन और बीस आने दरिद्र भी हो गया था। जिस देश के गरीब लोग गोबर में से अनाज चुनकर पेट पालने पर मजबूर होते है, उनकी दरिद्रता की करुण-कथा किस लेखनी से लिखें? वहा यदि स्त्रियो को अपना सतीत्व चुराकर बेचना पडे तो कौन आश्चर्य की बात? आश्चर्य की बात तो यह है कि इन बुराइयो से हमारे दिल को जैसी चाहिए चोट नही पहुंचती। अपने सुख और आराम की चिंता या धुन में अपने पडोसी का करुण-क्रदन हमारे कानो तक नही पहुंचता! हम व्याह-शादियो मे, अपने ऐश-आराम मे, तथा मामले-मुकद्दमो मे हजारो रुपया पानी की तरह बहा देंगे, पर ग़रीबो की ग़रीबी दूर करने के लिए, विधवाओ के धर्म की रक्षा के लिए खादी न पहनेंगे--खादी के लिए रुपया न खर्चेंगे। एक ओर धन-वैभव को ऐश-आराम मे लगाकर हम अपने आस-पास विषय-भोग का और उसके फल-स्वरूप व्यभिचार का वायु-मंडल निर्माण करते है, और दूसरी ओर अपने पडोसियो को दरिद्र बनाकर या बना रहने देकर उन्हे व्यभिचार के लिए मजबूर करते है। इस तरह हम दुहेरे पापी बनते है।

जो अच्छा काम स्वेच्छापूर्वक किया जाता है वह भूषण होता है, और जो दूसरो के दबाव से किया जाता है वह दूषण की सीमा को पहुच जाता है। यदि कोई अपनी खुशी से विवाह नही करता, तो इससे उसे सब तरह लाभ पहुचता है। यदि कोई किसी के दबाव या सकोच से विवाह नही करता, तो उसमे छिपे-छिपे पाप करने की कुवृत्ति पैदा होने का भय रहता है। स्वेच्छा-पूर्वक किये गये पाप के प्रायश्चित से मनुष्य की आत्मा का विकास होता है। परतु बलपूर्वक दिये गये दंड से उसका तेजोनाश होकर आत्मा दब जाती है। इसी प्रकार जो दरिद्रता खुशी-खुशी प्राप्त की जाती है वह मनुष्य के लिए भूषण-रूप होती है, परिस्थिति से दबकर इच्छा के विरुद्ध जो दरिद्रता अख्तियार करनी पडती है वह मनुष्य के पतन का कारण होती है। महात्माजी, लोकमान्य, मालवीयजी, लालाजी, नेहरूजी, देशबंधु तथा उनके सैकड़ो अनुयायी, जिन्होने स्वेच्छा-पूर्वक दरिद्रता अंगीकार की, उनमे

तथा भारत के करोड़ो लोगों में, जिन्हे ब्रिटेन की व्यापारिक लूटनीति और आसुरी साम्राज्यवादिता ने राह का भिखारी बना दिया है, जमीन-आसमान का अंतर है। सच्चा धनी वह है जिसने धन को ठोकर मार दी या धन को दीन-दुखियो की सेवा मे लगाकर खुद निर्धन की तरह रहता है। वह तो धन का गुलाम है, जो धन को बटोर-बटोरकर अपने ही सुख-चैन में लगाता है। धन का दूसरा नाम है भय। जिसको निर्भय होना हो वह निर्धन बनना सीखे। जिसको तेजस्वी बनना हो, वह दरिद्रता का व्रत धारण करे। भारत का वैश्य-समुदाय आज इसीलिए दब्बू और कायर बना-हुआ है कि उसे धन को बटोरकर रखने का असीम लोभ है। यूरोप के वैश्य, जो सेना और सत्ता की सहायता से तीस करोड भारतवासियो को पद-दलित करके उनके जड़-मूल को मिटाने का पाप कमा रहे थे उसका कारण है उनका धन-लोभ। इसलिए श्री शंकराचार्य ने कहा है--

अर्थमनर्थभावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।

परतु धन का लोभ एक बात है, और मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ के लिए धन की पर्याप्तता दूसरी बात। दरिद्र उस मनुष्य को कहते है, जिसके पास अपनी साधारण आवश्यकताओ की पूर्त्ति के योग्य धन या धन के साधन न हो। भारत इस अर्थ में आज कगालो का घर बना हुआ है। आज यहां सोलहो आने दरिद्रनारायण का निवास है। लक्ष्मीनारायण की नही, अब यहा दरिद्रनारायण की पूजा होनी चाहिए।

इस इतने विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि हमारे सबसे बडे तीन पाप हैं--(१) दरिद्रता, (२) व्यभिचार और (३) पराधीनता। दरिद्रता से व्यभिचार फैलता है और पराधीनता दरिद्रता का मूल कारण है। व्यभिचार हमारा सामाजिक पाप है, दरिद्रता राष्ट्रीय पाप है, इस त्रिविध पाप की एकमात्र औषध है स्वाधीनता, पूर्ण अर्थ में स्वाधीनता। अभी हम अगरेजी साम्राज्य से मुक्त हुए है, देश के भीतरी शत्रुओ से मुक्त या स्वाधीन नही हुए है।

: ४ :

सार्वजनिक और व्यक्तिगत संबंध

एक मित्र ने हाल ही में प्रश्न किया था कि सार्वजनिक जीवन मे व्यक्तिगत संबधो की क्या मर्यादा रहनी चाहिए ? सार्वजनिक सेवक के दोप किस हद तक सहन करने योग्य है ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, इसलिए इसपर जरा गहराई से विचार कर लेना अच्छा है।

सार्वजनिक क्षेत्रो में व्यक्तियो से जो हमारे संवध वधते है, उनका मूल है हमारी सार्वजनिक सेवा की भावना। उसमें हम परस्पर-सहयोग द्वारा देश और समाज की सेवा करते हुए अपने-अपने जीवन को उच्च, पवित्र और वलिष्ठ बनाना चाहते है। जहा समान आदर्श, एक-सी विचार-दिशा मिल जाती है वही मित्रता और सख्य हो जाता है और वह सगे भाई-वहनो से भी ज्यादा प्रगाढ वन जाता है। ऐसी दशा में हम प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि दूसरे की नैतिक और आत्मिक उन्नति में सहायक हो और इस वात के लिए सर्वदा सतर्क और जाग्रत रहे कि हमारे अदर कोई वुराई या गदगी घुस तो नही रही है। जहा मित्रता और भाईचारा होता है वहा परस्पर विश्वास तो होना ही चाहिए। अविश्वास और सशय रखनेवाला आदमी नित्य मरता है, जवकि विश्वास रखनेवाला धोखा खाकर कभी-कभी मरता है। फिर भी यदि किसीसे कोई दोप या गलती हो जाय, तो उसे चुपचाप सहन कर लेना या उसकी तरफ से आखे मूद लेना किसी प्रकार उचित नही है। इसका सवसे अच्छा तरीका तो यह है कि जिससे गलती या दोष हुआ हो उसे जाग्रत कर दिया जाय। ऐसा न करके दूसरो से कानाफूसी करना वुरा और वेजा है। ऐसे अवसरो पर दोप-पात्र का उपहास करना अपनी हीन-वृत्ति का परिचय देना है। हा, दोप यदि गभीर हो तो उसकी सूचना संस्था या समाज के वरिष्ठ को अवश्य दे देनी चाहिए। यह निंदा नही है। द्वेष-भाव से यदि कोई वात ऐसे लोगो से कही जाय, जिनपर उस व्यक्ति या उसके कार्यो की कोई जिम्मेदारी या सवध नही है, तो वह निंदा

कहलाती है।

अगर व्यक्ति अपना दोप स्वीकार कर लेता है और प्रायश्चित्त करके आगे के लिए ऐसा न होने देने का विश्वास दिला देता है तो फिर उससे पूर्ववत् सार्वजनिक संबंध रखा जा सकता है। परतु इसमे दोपित व्यक्ति की वृत्ति देखनी होगी। दोप पहले-पहल ही हुआ है या अकसर होता रहता है यह भी देखना होगा। फिर जैसी स्थिति हो वैसा ही उसका मूल्य समझकर व्यवहार करना चाहिए। यदि वृत्ति ही दूपित हो तो फिर उसे गंभीर मानकर सार्वजनिक संबंध भी छोडा जा सकता है। अलवत्ते प्रेमपूर्वक व्यक्तिगत सेवा उसकी की जा सकती है, उसे बुराई से बचाने के उपाय सहानुभूति के साथ किये जा सकते है, हमे उससे घृणा भी न करनी चाहिए। पर सार्वजनिक संस्थाओ में उसका रहना हितकारी नही हो सकता। व्यक्ति की अपेक्षा सस्था और संस्था की अपेक्षा सिद्धांत का महत्व सर्वदा ही अधिक रहना चाहिए। व्यक्ति जव संस्था और सिद्धांत की जीवित प्रतिमूर्त्ति वन जाता है तव वह अपने-आप संस्था और सिद्धात के वरावर महत्व पा जाता है, वह सूर्य के सदृश तपता, जीवन देता और गंदगी और अपवित्रता को भस्म करता जाता है।

जव किसीके शरीर या मन मे से कोई दोप निकालने की चेष्टा की जाती है तव उसे दु ख तो जरूर ही होगा, परंतु उससे घवराने की जरूरत नही। यदि उसकी वृत्ति मे केवल सेवाभाव ही है, संयोगवश यह दोप हो गया है तो इस व्यवहार से उसकी गलतफहमी न होगी, वह इसके दूरवर्ती शुभ परिणाम को और इसमें छिपे हुए अपने आत्म-कल्याण को देख सकेगा। और यदि उस समय उसे इतना दर्शन न हुआ, तो भी वह अधिक सुख पायगा और पीछे हमें अवश्य आशीर्वाद देगा।

व्यक्ति का महत्व वहीतक है, जहातक कि उससे सार्वजनिक सेवा ही होती है, और गंभीर वुराइयो का वह साधन नही वनता। यदि हमें सार्वजनिक सेवा ही प्रिय है तो हम इस विपय मे गाफिल नही रह सकते।

: ५ :

ईश्वर किनका है ?

हिंदू-समाज के लिए कितनी वडी लज्जा की वात है कि हरिजनो को मंदिरो में प्रवेश कराने के लिए महात्माजी-जैसी विश्व-विभूति को अपने प्राणो की वाजी लगा देने की तैयारी करनी पडी और सत विनोवा को चाटे खाने पडे। जिन्होने ईश्वर को कुछ समझने का यत्न किया है, जो ईश्वर को मानव-जाति का ही नही, सारी सृष्टि का पिता समझते है, जो ईश्वर को दीनवधु, पतित-पावन, करुणा-सिधु, 'दीनन-दुःख-हरण देव' कहते है, वे किस मुह से यह कह सकते है कि ईश्वर के मदिर में अकेले उच्चवर्ण के हिंदुओ को ही जाने का अधिकार है, अवर्ण, अछूत, दलित या दूरित कहे जानेवाले हिंदुओ को नही ? एक पिता का कोई पुत्र कैसे तो पीढ़ियो के लिए अपने घर मे अछूत समझा जा सकता है और कैसे वह घर के देव-मंदिर मे जाने से रोका जा सकता है ?

क्या कभी किसीने इस वात पर भी विचार किया है कि सच्चे हृदय से, व्याकुल हृदय से, परमात्मा के मदिर मे कौन लोग जाते है ? जिसको किसी तरह का कोई कष्ट नही है, क्या उसे कभी गद्गद् कंठ से भगवान् के चरणों में सीस झुकाते हुए किसीने देखा है ? सच पूछा जाय तो भगवान् का मंदिर उन्ही लोगो के लिए है, जो वास्तव में दुखी, दरिद्र, पीड़ित और पतित है। जिसके पास वहुत धन है उसका भगवान् धन ही होता है। जिसके पास सत्ता, राजैश्वर्य है उसका भगवान् वहुत करके ऐश्वर्य ही होता है। जिसको अपना उच्चता या ज्ञान का अभिमान है उसका भगवान् वहुधा अभिमान ही हुआ करता है। उसको सहसा भगवान् की ही आवश्यकता नही होती, फिर भगवान् के मदिरो तक दौडने की वात तो दूर है। भग-वान् की आवश्यकता तो वही लोग महसूस करते है, भगवान् के मदिरो मे जाने की आवश्यकता तो उन्ही लोगो के लिए है, जिनका संसार मे कोई सहारा नही, न जिनके पास विद्या-वल है, न धन-वल है, न सत्ता-वल है

और न किसी प्रकार का ऐश्वर्य ही है। ईश्वर के प्रति सच्ची पुकार इन्ही आर्त्तो के हृदय से निकल सकती है। सुखी और संपन्न लोग भी ईश्वर के दया-दरवार मे तभी सच्चे भाव से दौडते है, जव वे किसी प्रकार के दु.ख, कष्ट, विपत्ति या सकट में पड जाते है। ज़रा हम अपनेको अपने दलित या अछूत कहलानेवाले भाइयो की अवस्था में रखकर उनके पीढियो के दु ख, कठिनाइयो और असहायता की कल्पना तो करे, कभी कुछ घटो के लिए मेहतरो के मुहल्लो मे जाकर यह तो देखें कि क्या उनके वच्चे हमारे वच्चो ही की तरह खाते-पीते, पहनते-ओढते, गाते-खेलते और पढते-लिखते है ? क्या उनको उसी तरह खाने-पीने की, पढने-लिखने की और समाज मे सव जगह प्रवेश पाने की सुविधा है, जोकि हम सवको प्राप्त है ? यदि नही तो क्या कभी हमने यह भी सोचा है कि हमी तो, हमारी ही वनाई समाज-व्यवस्था तो, इसका कारण नही है ? और क्या कभी इतना भी सोचा है, कि आखिर हमने पीढियो से और हजारो वर्षो से इन भाइयो को इस नरक में क्यो डाल रखा है ? इन वेचारो ने हिंदू-समाज का ऐसा कौन-सा भयंकर अपराध किया कि जिसके लिए करोडो लोग कुछ दिन नही, कुछ साल नही, कुछ पीढियो नही हजारो वर्षो से सिर्फ वहिष्कृत ही नही, वल्कि 'अस्पृश्य' करार दिये जावे ? क्या उनका अपराध यह तो नही है कि हम मैला करते है और वे साफ करते है, हम गदगी करते है और वे सफाई करते है ? यदि वे ऐसा न करे, तो जरा खयाल कीजिये, आपकी और आपके वाल-वच्चो की तंदुरुस्ती का क्या हाल होगा ? यदि वास्तव में यही उनका गुनाह है और यदि हमारा अत्याचार ही उसका दंड है, तो फिर क्यो न सव सगठित होकर इन कामो को छोड दे, और क्यो न अपनी इन जरूरतो को पूरी करने की जिम्मेदारी खुद हमी पर डाली जाय ? यदि आप न्यायी ह, यदि आप अपने हित-चिंतक है तो या तो आपको अस्पृश्यता को मिटाकर 'अस्पृश्य' भाइयो को समाज में प्रेम का ही नही, आदर का स्थान देना होगा या आपको स्वय अस्पृश्य वनना होगा, अर्थात् स्वय अपनी गंदगी को साफ करने का भार अपने ऊपर लेना होगा। यदि हमारे दिमाग

में 'शुद्धि' नाम की कोई वस्तु है, हृदय में 'दर्द' नाम की कोई चीज है और विश्वास मे 'ईश्वर' नाम का कोई भाव है तो हम अपने जीवन में किसीको सदा के लिए अस्पृश्य नही मान सकते ।

'हिंदूधर्म 'सर्वात्मभाव' और 'सर्वभूत-हित'—इन दो सिद्धातो पर रचा गया है । पहला सिद्धात जगत् का परम सत्य है और दूसरा उसके पास पहु-चने का विधान है । इनको हम संक्षेप मे सत्य और अहिंसा कहते है । इनके विपरीत कोई भी बात हिंदू-धर्म मे स्थायी या त्रिकालाबाधित नही मानी जा सकती । शास्त्र इन्ही सिद्धातों की व्यवहार-विधियो को बताते है । कोई व्यवहार-विधि, किसी भी दशा में, मुख्य तत्व से बढकर नही मानी जा सकती । अस्पृश्यता यदि किसी समय किसी कारण से किसी शास्त्र द्वारा अनुमोदित भी हो, तो भी उसे उपर्युक्त दो महान सिद्धातो से बढ़कर महत्ता किसी भी दशा मे नही दी जा सकती । अस्पृश्यता को हमे सत्य और अहिंसा की रोशनी मे जाचना होगा । इस कसौटी पर अस्पृश्यता किसी तरह नही टिक सकती । फिर मदिर-प्रवेश-निषेध तो किसी भी धार्मिक सिद्धात के नाम पर न्याय नही कहा जा सकता । इसके अलावा हिंदू-लोक-मत के इतने प्रबल विरोध मे तो किसी हानिकर प्रथा पर चिपके रहना किसी प्रकार धर्म-संगत नही कहा जा सकता । कुछ पुरानी प्रथाओं और कानून को धर्म की आत्मा से बढकर महत्व देना धर्म से अपनेको दूर रखना है ।

: ६ :

सार्वजनिक चर्चा से लाभ

एक बार मैने अखबारो मे कुछ बातो की साफ-साफ चर्चा करना शुरू की थी तब कुछ खलबली-सी मची थी । यह जीवन का लक्षण है । लेकिन साथ ही कुछ मित्रो ने यह भी टीका की कि सार्वजनिक सेवको की त्रुटियो की चर्चा सार्वजनिक रूप से करना ठीक नही है । काम करनेवाले योंही

कम है, तिसपर यदि उनका कृष्ण पक्ष लोगो के सामने आवेगा तो उनपर से लोगो की श्रद्धा हट जायगी । इस दलील से मै वखूवी परिचित हूं । यही नही, वल्कि मैने खुद यही दलील देकर दूसरे लोगो को सार्वजनिक आक्षेप करने से रोका है । परतु इस विचार में मुझे कुछ भूल मालूम हुई है। व्यक्तिगत आक्षेप करना एक वात है और सार्वजनिक सेवको के उन आचरणो, नीतियो, सिद्धातो की चर्चा करना, जिनका सार्वजनिक जीवन पर असर पड़ता है, दूसरी वात है । व्यक्तिगत निंदा और आक्षेप अवश्य वुरी वस्तु है, वह कुरुचि और द्वेष की सूचक है। परंतु आचरणो, नीतियो, सिद्धातो की तटस्थ भाव से और शिक्षा ग्रहण करने की वृत्ति से चर्चा करना सार्वजनिक जीवन को वनाने और लोकमत को शिक्षित करने का अच्छा सावन है । अभी तो मै यह देखता हूं कि हम चार साथी भी खुलकर एक-दूसरे से चर्चा नही करते और यदि आपस में कर भी ली तो सर्वसाधारण मे चर्चा करते हुए डरते है। मेरे कहने का यह मतलव नही है कि जिन वातों का सीधा सवंध सर्वसाधारण से न हो उनकी भी चर्चा हम सवके सामने करें ही, हालाकि मेरे अपने मत में तो सार्वजनिक कार्यकर्ता का जीवन खुली पुस्तक की तरह होना चाहिए कि कोई भी उसे सरलता से पढ ले और जो वात किसीको खटके उसकी वह अवश्य आलोचना करे, परंतु इसमें विवेक और मतभेद की गुजायश हो सकती है, लेकिन सार्वजनिक विपयो से संवंध रखनेवाली, सार्वजनिक जीवन पर सीधा असर डालनेवाली वातो की चर्चा करने में तो किसीका मत-भेद न होना चाहिए। किसी वात पर जव चारो ओर से रोशनी डाली जाती है तव उसका असली स्वरूप देखने, समझने का और अपने-आपको ठीकठाक करने का प्रत्येक को अवसर मिलता है । फिर हमारी कुरुचि, अनियंत्रितता और कुप्रवृत्ति पर यह एक निर्दोप कैद का भी काम देती है । जवतक हम यह समझते है कि हम मित्रो और साथियो में सुरक्षित है, तवतक हमारी कुरीतियो और कुप्रवृतियो के अनियन्त्रित होने का वरावर अदेशा रहता है, लेकिन जव हमको यह मालूम है कि हमारे प्रत्येक आचरण, नीति आदि की खुली चर्चा हमारे मित्रों

और साथियो द्वारा भी हो सकती है, तो हम अनियंत्रित होने से पहले हजार दफा सोचेगे ।

हा, ऐसी चर्चा शिष्टता, गभीरता, अलिप्तता और सद्भाव के साथ होनी चाहिए। हमारे देश की जनता वहुत पिछड़ी हुई है। उसमें सार्व-जनिक सेवाओ और कार्यों के प्रति अनुराग वढाना जरूरी है। उसके दिमाग को हर तरह का अच्छा भोजन देना है। ऐसी चर्चा इस कमी को पूरा करेगी। कोई कटुता, उच्छृ खलता और अनियत्रितता के साथ ऐसा करने लगे तो हम उसे अवश्य रोके। ऐसे लेखो, वक्तव्यो,भापणो को स्थान न दें। सुरुचि का अवश्य ध्यान रखें। हम समीक्षा, समालोचना को तो अवश्य प्रोत्साहित करे, फिर वह चाहे वस्तु की हो, चाहे व्यक्ति की हो; लेकिन व्यक्तिगत आक्रमण, कुत्सापूर्ण टिप्पणी,केवल दोप-दर्शन और दोषा-रोपण से वचें और वचावें। चूकि अवतक हम ऐसी नाजुक वातो से पर-हेज करते आये है, इसलिए संभव है, नये खिलाड़ी की तरह, शुरू में हमसे इधर या उधर गलतिया हो जावे, तो इसकी परवा न करनी चाहिए। यदि भाव शुद्ध है तो ये गलतियां हमें ऊपर ही उठावेंगी। जवतक हम सर्वसाधारण के गुण-दोष-परीक्षण की शक्ति को न वढ़ावेंगे तवतक वे अधे बने रहेगे। हमारा वल होने के वजाय वोझ बने रहेगे। उनकी आखे खोलना हमारा, उनके सेवको का, एक आवश्यक कर्त्तव्य है।

एक और वात की ऐहतियात रखना जरूरी है। ऐसी चर्चा इस तरह होनी चाहिए कि जनता का वुद्धि-भेद न हो। हममे से हरेक की शक्ति देश के नव-निर्माण की दशा मे ही खर्च हो। इसी एक लक्ष्य को सामने रखकर हम वोलें, लिखे, चले और दौडे। किसीके आचरण, नीति-सिद्धात का परीक्षण भी इसीलिए करे कि वह उस महान् उद्देश्य को सिद्ध करे। जीवन के निर्माण और वृद्धि, प्रगति के लिए अच्छी काट-छांट अनिवार्य होती है। समीक्षा, समालोचना, इसी काट-छाट का काम देती है। यदि हम ऐसा नियम वनाले कि हम कभी किसीके खिलाफ कुछ न कहेगे, किसीके सघर्ष मे न आवेगे, किसीसे कुछ न कहेंगे, तो हम देखेगे कि हमारी प्रगति रुक

गई है, हमारा तेज घट गया है, हम धीरे-धीरे मृत्यु की ओर जा रहे हैं। यदि हम सजीव हैं, बढ रहे हैं, चल रहे हैं तो हम उन प्रसंगो को नही टाल सकते, जब किसीके खिलाफ कहना पड़ेगा, किसीके संघर्ष में आना पडेगा, किसीसे बुरा बनने की जोखिम लेनी पडेगी। हां, हम यह नियम बना सकते है कि हम किसीका बुरा नही चाहेंगे, किसीका बुरा न करेंगे, मगर किसी की बुरी बात को बुरा न कहेंगे, उसकी समालोचना नही करेंगे, उसका विरोध नही करेंगे, ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं? सत्य का सहयोग और असत्य का विरोध, धर्म का पालन और अधर्म का प्रतिकार तो हमें करना ही होगा। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु की समालोचना करते है तो वाणी के क्षेत्र में सत्य और धर्म के सहयोग और असत्य एवं अधर्म के विरोध का ही प्रयत्न करते है।

हा, वस्तु निर्जीव और व्यक्ति सजीव होता है। इसलिए व्यक्ति की चर्चा मे सहृदयता की जरूरत रहती है। जहा सुधार की इच्छा है वहां सहानुभूति और सहृदयता ही दिखाई दे सकती है। ऊपरी कठोरता के अंदर भी सहृदयता की फल्गु बहती है। सर्जन जब फोड़े को चीरता है, तब उसके चाकू की तीखी धार में क्या रोगी के प्रति सहृदयता छिपी नही रहती? इस विवेचन से पाठक जान लेंगे कि सार्वजनिक चर्चा कितनी आवश्यक है।

: ७ :

एकता की समस्या

इस समय देश को भीतरी एकता की परमावश्यकता है। व्यक्तिश: मै न एकता का भक्त हूं, न दलबंदी का। मैं भक्त हूं सेवा का, स्वतंत्रता का, रामराज्य का। सिद्धात में मै मानता हूं कि स्वतत्रता बिना एकता टिकनी असंभव है। इसका भी मैं अनुभव करता हूं। पर समस्या हमारे सामने एकता के गुण-दोष की नहीं है, बल्कि यह है कि मौजूदा हालत में एकता कैसे साधी

जाय ? एकता पर जो जोर अभी दिया जा रहा है वह राष्ट्रीय एकता पर है, न कि राजनीतिक एकता पर। राष्ट्रीय एकता से मेरा अभिप्राय है भिन्न-भिन्न जातियो की एकता, और राजनीतिक एकता से मतलव है भिन्न-भिन्न राजनीतिक संस्थाओ या दलो की एकता। आज तो दोनो एकताएं कठिन हो रही हैं। महात्माजी के वलिदान ने साप्रदायिकता की तो जड़ हिला दी है, परतु अभी राष्ट्रीय एकता सिद्ध नही हुई। राजनीतिक एकता का तो मार्ग भी अभी दृष्टि-पथ मे नही आ रहा है। काग्रेस, कम्यूनिस्ट, हिंदू-सभाई, समाजवादी सवका एक सस्था या सगठन मे समावेश होना असभव है, क्योकि इनमें दृष्टि-विंदुओ का ही भेद है। सामाजिक या राजनीतिक आदर्श ही जुदा-जुदा है। इनमे एकता एक ही बात पर हो सकती है--सव दल के लोग यह निश्चय करें कि हम अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए गदे, झूठे व हिंसात्मक साधनो से काम न लेगे। केवल लोक-सेवा व लोकमत के वल पर अपनी रीति-नीति चलायेगे। इससे अधिक उनके उद्देश्यो को वदलने का प्रयत्न करना चाहे तो यह एक हद तक लोगो के स्वभाव को वदलने जैसा है। मेरे खयाल में वुरी वात भिन्न-भिन्न दलो का रहना नही है, वल्कि है उनका परस्पर का द्वेप, ईर्ष्या या वैर-भाव रखना। यदि हम इस दुर्गुण से वच जायं तो फिर सव दल काग्रेस के अदर रहे तो क्या और सव वाहर रहे तो क्या? उससे एक का बल किसी कदर घट नही सकता। वल कोरे विचारो और शव्दो मे नही, कार्य मे होता है। वल संख्या में नही, गुण मे है। वल और उत्साह कोई वाहरी चीज नही; प्रस्ताव या निर्णय से आनेवाली चीज नही। जिनके पास अपना उत्साह और वल है वे आज भी अपना काम विना ही हल्ला मचाये कर रहे है। जिनकी पूजी कम थी वे इधर-उधर हाथ-पैर मार रहे है। हमे चाहिए कि हम अपनी मद बुद्धि या संकुचित दृष्टि को एकता के मार्ग मे वाधक न होने दे। यदि हम मूल की तरफ वढेगें तो एकता पर पहुच जायंगे। यदि विस्तार में भटकेंगे तो जिंदगीभर भटकते ही रहेगे। पेड का मूल खोजेगे तो किसी एक जगह पर उगली रख सकेगे, पेड के विस्तार को खोजेगे तो अनंत मे हाथ-पैर मारते रहेगे। अत. यदि हमे राष्ट्रीय एकता

साधनी है तो हमे उसकी जड को मानवता मे खोजना होगा, क्योकि हम राष्ट्रीय होने से पहले मानवी हैं। हिंदू, मुसलमान, धनी, गरीब, सब बाद में हैं और ये भेद मनुष्यकृत हैं। ईश्वरी या प्राकृतिक भेद है मनुष्य व पशु का। इसी सिद्धात पर यदि हम एकता की आवाज उठायंगे तो किसी दिन अवश्य सफल होगे।

: ८ :

हिंदू-जाति और नंगे साधु

हिंदू-जाति धार्मिक सिद्धातो की सूक्ष्मता मे जितनी आगे बढ गई है, उतनी आज उनके गूढ रहस्य के अनुसार व्यवहार करने मे पिछडी हुई है। यह हमारा परम दुर्भाग्य है। हिंदू तत्त्वज्ञानरूपी दैवी और अनमोल निधि परमात्मा ने अबतक हम जैसे कुपूतो के पास न जाने क्यो रख छोडी है? यदि समय-समय पर हिंदू-जाति मे उच्च तत्त्वो और आदर्शो को अपने जीवन में सजीव कर दिखानेवाले सत्पुरुष न उत्पन्न होते रहते तो हम आज कही के न रहे होते। यही कारण है, जो इस गई-गुजरी हालत में भी हमें अपनी बुनियाद पक्की नजर आ रही है। हमारे आध्यात्मिक सिद्धात शुद्ध, अकाट्य और त्रिकालाबाधित होते हुए भी आज हमारा जीवन आध्यात्मिक या धार्मिक नही है। वह आडबरो, अधविश्वासो और मिथ्या-व्यवहारो का विडंबनापूर्ण जीवन हो रहा है। इसका कारण यह है कि सदियो से हमने धर्म मे बाहरी नियमो और आचारो के पालन पर इतना अधिक ध्यान और जोर दिया है कि धर्म की आत्मा को गंवा और भुला बैठे हैं। साधुओ की नग्नता का ही उदाहरण लीजिये। एक धार्मिक हिंदू के लिए यह समझना कठिन नही है कि भिक्षु जब त्याग और अपरिग्रह की पराकाष्ठा को पहुंचने लगता है तब वस्त्र भी उसे अनावश्यक और भार-स्वरूप लगने लगते हैं और वह उनका त्याग कर देता है। पर कहां तो

यह आत्मिक विकास की उच्च विरागावस्था और कहा आजकल के साधुओ की नंगी जमातें, जिनका आत्मा की पवित्रता, मन की निर्मलता से कोई सरोकार हो सकता है? जिसे वात-वात पर क्रोध आता हो, समय पर भोजन न मिले तो जो तिलामिला उठता हो, टके और कौडियो के अथवा मिष्टान्न के लिए नग्नता का—नंगो की जमात का—प्रदर्शन करता फिरता हो, उसे वही साधु और मुनि कहेगा, जिसकी वुद्धि जडता से मलीन हो गई है। जो वास्तविक विरक्ति के कारण नग्नता को प्राप्त हुए हैं, उन्हे क्या जरूरत है गांवो और नगरो मे प्रवेश करने की और क्या जरूरत है वस्त्राभूपण-सज्जित सुदरियो और युवतियो के समक्ष भोजन पाने की। सनातन धर्मी कहलानेवालो के यहा तो नगो की एक खासी जमात—फौज ही है, जो अपनी उद्दडता, असंम्यता, मुड़चिरेपन के लिए प्रसिद्ध है। जैनियो मे भी नंगे साधुओ का प्रचलन है। एक मित्र ने इस कुप्रथा की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है और मुझे यह कहने मे हिचकिचाहट नही है कि जिसका आचार दूपित है, जो विकारो के वश मे है, उसे नग्न होने का कोई अधिकार नही है। और यदि रहता हो तो उसे शहर मे व ग्राम मे रहने का कोई अधिकार नही है। यदि वह आवे तो अवश्य उसका वहिष्कार होना चाहिए। जो लोग अज्ञान सेवा, लोक-लाज से ऐसे सावुओ को पूजते है वे धर्म की विडवना करते है और अपना तथा अपने कुटुवियो के पतन का मार्ग निष्कण्टक करते है। अकेला निर्विकार व्यक्ति ही नग्नता को सुशोभित व सार्थक कर सकता है, परंतु ऐसे उच्च कोटि के महापुरुप कितने मिलेगे।

: ९ :

विवाद-युग

भारत की राजनीतिक प्रगति मे वर्तमान काल को हम विवाद-युग भी कह सकते है। आएदिन एक-न-एक नया विवाद खड़ा होता है और उसे

सुलझाने में आला दिमागो को थक जाना पड़ता है। नये-नये वादो की, प्रणालियो की, दलो की, भरमार हो रही हैं। और उनके विवाद खत्म ही नही होते। राजनीतिक क्षेत्र में ही नही, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी इनकी कमी नही है। धार्मिक जगत तो मानो विवादो का घर ही है। पाकिस्तान और हिंदुस्तान—हिंदुओ और मुसलमानो का सबसे बडा विवाद तो वैतरिणी की तरह खून की धारा वहा ही चुका है और अब भी उसका अदेशा बना हुआ है। जब इस दु खद स्थिति के मूल कारण की ओर दृष्टि जाती है तो बड़े दु ख के साथ कहना पड़ता है कि हमे बाते करने और नये विवादो को खड़ा करने का जितना शौक है उतना काम करने की उमंग नही है। इसमें अधिकाश लोग तो जरूर ऐसे हैं जो बाते करने और परस्पर बुद्धि लडाने में प्रवीण हैं, और यही उनके किये हो सकता है; पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सचमुच काम करना चाहते हैं, काम की व्याकुलता और अधीरता ही उन्हे ऐसे विवादो में, खीच लाती है। पर मुझे कहना होगा कि जबतक वे अपनी अधीरता और उतावली में नई-नई बौद्धिक समस्याएं खड़ी करते रहेगे और विवाद में पडते रहेगे जबतक वास्तविक काम उनसे दूर भागता जायगा। एक सस्था बना लेना, उसके नियम-उप-नियम बना लेना, अथवा बढ़-बढ़कर गरमा-गरम बात की घात में लगे रहनेवाले देश-भक्तो को उसमें एकत्र कर लेना, कोई भारी काम नही है। जबतक जनता के सगठन का ग्रामो में सोये बल को सग्रह और पुष्ट करने का काम नही उठाया जाता और उसमें बलिदान के उत्सुक हमारे युवक बंधु कूद नही पड़ते तबतक इन विवादो का अंत होना कठिन है और न तबतक हमारे नये-नये और बड़े-बडे नामो में कोई स्थायी प्रभाव ही आ सकता है। चाहे हम शासन में हो, चाहे सगठन में, चाहे और कही, हमारा प्रधान लक्ष्य होना चाहिए काम, ठोस काम, निर्माण-काम, विवाद और बाते नही। हम भिन्न-भिन्न वादो, नामो और शब्दो की खीचातानी में क्यो अपना अमूल्य समय, शक्ति और रुपया खर्च करें? क्यो न असली चीज को प्राप्त करने के लिए आवश्यक बल और संगठन पर अपनी सारी शक्ति केंद्रित कर दें? जिसके

पास कार्य का वल होता है, वह शब्दो और नामो के विवाद मे नही पडता। उसका वह बल अभीष्ट वस्तु को खीचकर सामने ले आता है और लोग कहते और मानते है—यह एक काम का आदमी है, इसकी वात सुनो। परमात्मा इस अभागे देश मे ऐसे काम के हजारो लाल पैदा करे !

: १० :

मालिक और मज़दूर

मालिक और मजदूर की समस्या देश मे अपना रूप वदलती और सम्भवत. जटिल होती जा रही है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि जवतक देश में वड़े कारखाने है, या उनकी आवश्यकता रहेगी, तवतक मालिक और मज़दूर भी किसी-न-किसी रूप में रहे विना नही रह सकते और जबतक इन दो दलो का रहना अनिवार्य है, तवतक यह भी मानी हुई वात है कि उनका आपस में सवंध सव तरह अच्छा रहना भी परमावश्यक है—इसके विना न कारखाना ही एक मिनट अच्छी तरह चल सकता है, न देश के लिए आवश्यक उत्पादन ही वढ सकता है—इसका सवसे अच्छा उपाय यह है कि मालिक खुद-व-खुद मजदूरो के हितो पर, अपने हित से अधिक, ध्यान रखें, अपने मुनाफे से अधिक ध्यान उनके लाभ और सुख का रखें। इससे मजदूरो मे अपने-आप कार्य-दक्षता और जिम्मेदारी का तथा कारखाने और मालिको के प्रति प्रेम का भाव पैदा हुए और वढे विना नही रह सकेगा। पर इतना होते हुए भी उनका आपस मे समय-समय पर झगड़ा और टक्कर होना सभवनीय है, क्योंकि यह तो मजदूर का, गरीवो का युग है। अव कही जाकर परमात्मा ने उनकी कुछ सुनी है, तो वे अपना जोर बनाये बिना रहने के नही। इधर मालिक भी सभी इतने देशभक्त, सहृदय और दूर-दर्शी नही है कि समय को पहचानकर आगे बढ जायं। ऐसी अवस्था में आपस के झगडों का निबटारा करने के लिए एक पंचायत वना लेनी

चाहिए। संघ तथा प्रांतीय सरकारो ने भी सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर पंचायत या अदालते वना दी है। पर सवसे अच्छी वात तो यह है कि मालिक और मजदूर मिलकर अपने प्रतिनिधियो की एक पंचायत वनावें। वह अधिक स्थायी और दोनो के लिए कल्याणकर सावित होगी, क्योंकि हमारी अपनी सरकार होने पर भी सरकार आखिर सरकार ही है, उसे सत्तावल या दड-वल से काम लेना पड़ता है और जहां दंड-वल से काम लिया जाता हो, वहा फैसला जल्दी हो भी जाय, तो भी दोनों पक्षो में सद्भावना नही वढ सकती। इसी तरह मजदूरो का संगठन भी महज राज-नीतिक आदोलन के लिए करना अथवा उन्हे उसके निमित्त भड़काते रहना भी उचित नही है। मजदूरो को राजनीति में भाग लेना हो तो वे कांग्रेस या दूसरे संगठनो में शरीक हो सकते है। मजदूर-संघ तो सिर्फ उनके मालिकों के सवधो तक ही सीमित रहना चाहिए। मालिको में जैसे कई महास्वार्थी और नायलाक है वहां मजदूरों के नेताओ में भी स्वार्थ-साधु और अयोग्य पुरुप न हो सो वात नही। परतु इसमें भी कोई शक नही है कि सवल और निर्वल के मुकावले में, धनी और निर्धन के मुकावले में, सवल और धनी के ही पास दूसरे को दवाने के साधन विपुल होते है और दोनो के झगड़े वढाने की अवस्था में ज्यादा दोषी वही समुदाय माना जाता है, जो धन-वल और विद्या-वल में वढा-चढा हो।

अब तो सरकार हमारी अपनी है, जोकि मजदूरो के हितो और अधि-कारो की रक्षक ही है। वह दिन भी नजदीक समझना चाहिए जवकि मज-दूरों व किसानो की सरकार वन जाय। इस देश में ८० फीसदी से ज्यादा किसान-मजदूर है, अत. जो भी जनतंत्री सरकार वनेगी, उसमें उन्हींके प्रति-निधियो की प्रधानता रहेगी। फिर भी सत्ता-वल की अपेक्षा सद्भावना का वल अधिक श्रेष्ठ और स्थायी है, यह वात हमें नजरअंदाज न करनी चाहिए।

: ११ :

दलबंदियों का मूल

यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि सभी जगह कार्यकर्त्ता आपस मे लडते-झगड़ते रहते है। हमारे यहा तो जितने लोग है उतने दल है। एक-दूसरे का सहायक या पूरक नही, विरोधी है। यो तो ये तथा दूसरी वुराइयां प्राय. सभी जगह पाई जाती है, फिर भी यह वात नही कि देश के नेता और कार्यकर्त्ता इन खराबियो को देखते या महसूस न करते हो और सोच-विचारकर इनको दूर करने का उपाय भी न करते हो, क्योकि जो लोग प्रत्यक्ष काम करते है और जिन्हे महज काम की ही धुन है, उन्हे ये खराविया और कठिनाइया ज्यादा दिन तक पुसा नही सकती, या तो उनको उनपर हावी हो जाना पडता है, या थककर किनारे वैठ जाना पड़ता है। फिर भी समय-समय पर इनके मूल कारणो को समझने और उनके इलाज सोचने की जरूरत रहती है।

मेरा अनुभव है कि जहा गंदी दलबदी और लडाई-झगडे ज्यादा पाये जाते है और सुलझाने पर भी वात उलझती ही रहती है, वहा अवश्य सिद्धात और नीति-विपयक प्रश्न नही रहता। स्वभाव-दोष या व्यक्तिगत द्वेप रहता है। सिद्धात और नीति-सवधी मतभेद जहा हो वहां विरोध तो होता है और वह समझ मे भी आ सकता है, परतु उसमे गंदगी और व्यक्तियो को गिराने और उनके पीछे पड़ जाने का प्रयत्न नही रहता है। असहयोग की वृत्ति जरूर रहती है। यदि मनुष्य की नीयत साफ है तो स्वभावगत दोप वरदाश्त किये ही छुटकारा है। मेरी समझ से खराबियो का मूल कारण कुछ भी हो, उनके दूर करने की जिम्मेदारी समाज या सस्था के उन लोगो पर ज्यादा है, जो ज्यादा समझदार, जिम्मेदार और अपने क्षेत्र मे ऊंचे दर्जे के है, साधारण लोगो की अपेक्षा कार्यकर्त्ताओ की और कार्यकर्त्ताओ की अपेक्षा नेताओ की जिम्मेदारी अधिक है।

व्यक्तिगत दोष, व्यक्तिगल महत्वाकाक्षाओ से उत्पन्न होता है। काम,

संस्था, समाज या देश-हित से अधिक महत्व जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओ को देने लगता है, तब उस व्यक्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइया और विघ्न-बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं और उनको मिटाने और लड़ने-झगड़ने में ही बहुत समय खर्च होता है व होता रहता है। आखिर में यदि महत्वाकाक्षी बहुत प्रबल हुआ तो 'रावण' बनने लगता है और नही तो नगा होकर अपनी नाक कटाकर दूसरो का अपशगुन करता रहता है। व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा खुद उस व्यक्ति और संस्था या समाज दोनों के ही शत्रु का काम करती है। अतः हरेक कार्यकर्ता को, जिसे सचमुच देशसेवा ही प्रिय है, इस भूत से सदैव बचते रहना चाहिए। यह भूत हमको कई बार इस तरह गुपचुप पछाड़ देता है और हमारे दिमाग को इतना बस में कर लेता है कि हमें अपनी गलत इच्छाएं भी नीति, आदर्श और सिद्धात के अनुकूल दीखने लगती हैं या जान-बूझकर हमे उन्हे उनका जामा पहनाने की प्रवृत्ति होने लगती है। इसमें कोई दूसरे का काजी न तो बन सकता है और न बनना ही चाहिए। हरेक को अपनी-अपनी छाती पर हाथ रखकर देखना चाहिए। यदि वह ऐसा नही करेगा तो उसका पतन और उस अंश तक संस्था या समाज की हानि निश्चित है।

कई बार हम दूसरो के नापने का गज बड़ा और अपनेको नापने का गज असावधानी या स्वभाववश छोटा बना लेते है। वास्तव में होना चाहिए इसके विपरीत। जितनी कड़ाई हम अपने साथ रख सकते हैं, जितनी आलोचना हम अपनी कर सकते हैं, उससे अधिक कड़ाई और आलोचना हम दूसरो की करेंगे तो जरूर ही हमारा प्रभाव कम पड़ेगा। हम अप्रिय हो जायंगे और साथ के ही लोग हमारे विरोधी बन जायंगे।

जबसे हम आजाद हो गये हैं तबसे तो सभी जगह एक नई कठिनाई अनुभव की जा रही है, जिससे हर राजनीतिक संगठन और संस्था में नित-नये झगड़े और सघर्ष पैदा हो गये हैं। जैसे-जैसे राजनीतिक सत्ता लोगो के हाथ में आ रही है, वैसे-वैसे स्वार्थी, सत्ता-लोलुप, महत्त्वाकाक्षी लोग संस्थाओ में घुसने और उनपर कब्जा करने के लिए उखाड़-पछाड़ करते नजर आते

है। इन दलों मे अक्सर वे लोग भी शामिल हो जाते हैं, जो किसी-न-किसी कारण से असंतुष्ट और नाराज रहते है और आपको टाग पकडकर घसीटने की फिराक मे रहते हैं। इस नई लहर मे जो सच्चे उत्साही लोग है, उनका भी झगडा दूसरो से खासकर पुराने कार्यकर्त्ताओ और नेताओ से इसलिए हो जाता है कि अनुभव की कमी, अपने किताबी ज्ञान और जानकारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा और अभिमान के कारण, वे पुरानो के अनुभव और साधना की कीमत कम आकते हैं। फिर राजनीतिक जागृति बिजली की गति से हो जाने के कारण थोड़े ही प्रचार और आंदोलन से लोग उनके पास इकट्ठे होने लग जाते हैं, अतः वे अपनेको सफल, प्रभावशाली और नेता मानने लगते है और जिन्होने वर्षो त्याग, सेवा और कष्ट सहने से अपनी रचनात्मक शक्तियो और कामो द्वारा अपना स्थान और प्रभाव बनाया है, उनका महत्व नही समझ पाते। इधर वे जनता को उकसा तो जल्दी लेते है, परतु उनके उभाड को सभाल नही पाते। इससे वे समस्याएं और उलझनें तो खडी कर देते हैं, परंतु उन्हे सुलझाने का भार आता है पुराने और मंजे हुए लोगो पर। फिर भी नये लोग सस्ती पद-प्रतिष्ठा के लिए आतुर रहते है, इससे पुराने लोगो के दिमाग पर बराबर तनाव रहता है और वे एक किस्म की परेशानी अनुभव करने लगते हैं, जिसके दो तरह के नतीजे होते हैं। जो लडाकू मनोवृत्ति के होते हैं, वे तो डंडा लेकर उनके पीछे पड जाते हैं और जहां हम किसीसे उलझ गये तो फिर कबल के भरोसे रीछ से उलझ जानेवाली गति होती है। जो सात्विक मनोवृत्ति के होते हैं, वे या तो भागकर किनाराकशी कर लेते हैं, या दूरदर्शिता से काम लेकर मध्य-मार्ग निकाल लेते हैं, जिससे उनके अनुभव और साधना का लाभ भी नये कार्यकर्त्ताओ को मिल जाता हैं। सदैव झगडो में उलझते रहने से तो यह कही अच्छा है कि हम अपने अभीष्ट काम मे ही व्यस्त रहे। इससे हम काम और सद्वृत्ति दोनों का अच्छा नमूना पेश करेगे।

: १२ :

सिद्धांत नहीं, स्वभाव

देश में एक ऐसा दल है, जो अपनेको गांधीजी की रीति-नीति से सह-मत नही कर पाता है। देश को विपम स्थिति से वचाने के लिए वह समय-समय पर गांधीजी के सामने सिर झुकाकर इस आक्षेप का खडन कर देता है कि नवयुवक गैरजिम्मेदार और जोशीले होते है। फिर भी यह स्पष्ट है कि वे गाधीजी के साथ अपनेको मिला नही पाते हैं। अव प्रश्न यह उठता है कि गांधीजी के साथ उनका यह फासला सिद्धात की वजह से है? हमने इसपर खुद भी विचार किया और कुछ विचारशील नवयुवको के प्रति-निधियो से भी वहस की, तो इस नतीजे पर पहुचे कि उनके और गांधीजी के सामाजिक आदर्श और सिद्धात मे कुछ कहने लायक भेद नही है। कुछ अंश में सावन और अधिकाश मे स्वभाव इस भेद का कारण है। नवयुवक दल के लोग अक्सर समाजवादी, साम्यवादी या अराजक इन तीन आदर्शो की ओर झुकाव रखनेवाले पाये जाते हैं। यो तो तीनो अंतिम आदर्श मे एक हैं, अर्थात् समाज में किसी प्रकार की सरकार यानी शासन-सत्ता नही रखना चाहिए, वहुत-से-वहुत एक व्यवस्थापक-मंडल रहे। समाजवादी इस स्थिति को धीरे-धीरे, साम्यवादी एकाएक पहुचना चाहते हैं। हिंदुस्तान में गुप्त सगठन और वम तथा पिस्तौल द्वारा स्वराज्य पानेवालो का नाम 'अराजक' रख दिया गया है। परंतु वास्तव में 'अराजक' उसे कहते हैं, जो समाज में किसी भी किस्म की शासन-व्यवस्था को न चाहता हो। गाधीजी के आश्रम का जिन्होने गहराई के साथ अध्ययन किया है, उनके 'रामराज्य' 'स्वराज्य', 'जनता का राज्य', 'अहिंसक राज्य' इन शब्दो की व्याख्या का जिन्होने वारीकी के साथ विचार किया है, वे तुरत ही यह जान सकते हैं कि आदर्श में गाधीजी और वे एक-दूसरे से अलग नही हैं। भिन्न-भिन्न शब्द सिर्फ इसी वात के सूचक हैं कि ये लोग उसके एक-एक विशेप पहलू पर जोर देते हैं। समाजवादी इस वात पर जोर देता है कि सवका दर्जा

और अधिकार समान हो, साम्यवादी इस बात पर जोर देता है कि समाज को हम कुटुंब मानकर चलें, अराजक इस बात पर जोर देता है कि कोई शासन-संस्था न रहे, और गाधीजी इस बात पर जोर देते हैं कि भलमनसाहत और न्याय का राज्य हो। चाहते ये सब है कि समाज मे कोई ऐसी सत्ता न रहे, जो उसे उसकी इच्छा के खिलाफ दबाकर रखे और उसपर हुकूमत करे। सब चाहते हैं कि समाज भीतर से ही अपना इस तरह विकास या सुधार करे, जिससे किसी बाहरी नियत्रण की जरूरत ही न रह जाय। भिन्न-भिन्न पहलू पर भिन्न-भिन्न लोग जो जोर देते हैं वह भी निरर्थक नही है। वह उनके देश और समाज की विशेषता, सभ्यता या परंपरा की तरफ इशारा करती है। असली चीज के रहते हुए भी समाज और देश की परपरा और संस्कार, तत्कालीन अवस्था और आवश्यकता उसके अग-विशेष पर ज्यादा जोर देना पड़ता है, या उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है। गाधीजी यदि रूस में और लेनिन यदि हिंदुस्तान में पैदा हुए होते तो दोनों के विचार और कार्य उन-उन देशो की परपरा और आवश्यकता से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते थे। इसलिए जितने भी ये सामाजिक आदर्श मे बहुत-कुछ साम्य रखनेवाले समुदाय हैं, उन्हे चाहिए कि वे एक-दूसरे के छोटे-बड़े अगो की भिन्नता की खूबी और आवश्यकता को समझें, उनकी कद्र करे और अपने अज्ञान तथा नासमझी के कारण अच्छे को बुरा और सीधे को उलटा समझने की गलती न करे।

पूर्वोक्त चारो मत या पंथ के लोग इस बात को मानते हैं कि समाज में से सरकार या शासक-मडल तभी उखड़ सकता है, जब समाज में से हिंसावृत्ति हट जाय और परस्पर प्रेम तथा सहयोग फैल जाय। लेकिन गाधीजी को छोड़कर पश्चिम के सभी पंथ बीच की अवस्थाओ में हिंसा, पशुबल या शस्त्र-बल के बिना दूसरा रास्ता नही देख सके हैं। इसका कारण यही है कि पश्चिमी देशो में सात्विकता की परंपरा नही चली आई है और प्राकृतिक कारणो से जीवन-सघर्ष इतना प्रबल है कि उन्हें अहिंसा की ऊंची और मंगल-भावना व्यावहारिक प्रतीत नही हो सकती। इसके विपरीत

भारत में एक तो सात्विकता के प्रवल संस्कार युगो से चले आ रहे है, और अव तो, हिंसा-विरोधी दल भी सगठित हो गया है। यहा के दूरदर्शी और आदर्शवादी नेता को हिंसा के वल पर समाज को उठाने और वनाने का खयाल सूझ ही नही सकता था। अवतक के अहिंसा के सामुदायिक प्रयोगो ने हिंदुस्तान को ही नही, सारी दुनिया को यह दिखा दिया कि अहिंसा केवल अच्छा और ऊचा ही हथियार नही, वल्कि अमली भी है। आम भी है और सो भी थोडे समय, थोड़े रुपये, थोड़ी शक्ति, थोडी कुरवानी से वहुत ज्यादा फल देनेवाला और दोनो पक्षवालो को फायदा पहुंचाने और ऊंचा उठानेवाला है। इसका फल पश्चिमी देशो में भी यह हुए विना न रहेगा कि वीच की अवस्था में हिंसा को जरूरी माननेवाले समाजोद्धारक भी हिंसा को अपने जीवन, कार्यक्रम और समाज से निकालने का प्रयत्न करेंगे। भारत में तो जिन-जिन जिम्मेदार, सच्चे और लगनवाले समाजवादी और साम्यवादियो से हम मिले है, उन्होने मुक्त-कंठ से इस वात को स्वीकार किया है कि हम अव पहले से अधिक अहिंसा के मतलव और महत्व को समझने लगे है। ऐसी दशा में हमारे वे मित्र साम्यवाद या समाजवाद के लिए हिंसा या शस्त्र को आवश्यक मानते है, या जो नवयुवको को रिझाने के लिए हिंसा या हथियार या वम-पिस्तौल के नामो का समय-समय पर प्रयोग करते है, उन्हे चाहिए कि वे पिछले वर्षो के महान् प्रयोग से लाभ उठावें।

पर जिन-जिन साम्यवादी या समाजवादी मित्रो ने अहिंसा के महत्व और मतलव को समझ लिया है, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे वर्गयुद्ध सवंधी अपने विचारो को अहिंसा की रोशनी में फिर से देखें। अहिंसावादी व्यक्ति का द्वेप और नाश नही चाहता, प्रणाली का विरोध और नाश करता है। द्वेप और घृणा ये हिंसा के वीज है। इनको कायम रखकर, पानी पिला-कर, हम कर्म और आचरण में अधिक समय तक अहिंसात्मक नही वने रह सकते। यदि इस विचारधारा मे कोई दोप नही है तो फिर उन्हे वर्ग-युद्ध-सवधी अपनी नीति में स्पष्ट रूप से भूल दिखाई दिये विना न रहेगी। फलतः

वे साम्राज्यवादियों और पूजीवादियो के खिलाफ युद्ध ठानने के बदले साम्राज्यवाद और पूजीवाद को तोड़ने में अपनी सारी शक्ति लगायेंगे। जो लोग साम्राज्यवाद और पूजीवाद से आज प्रेम कर रहे हैं, उनसे चिपके हुए है, वे या तो स्वार्थवश ऐसा कर रहे है या अज्ञानवश। दोनो को यदि उनमें से हटाना है तो वे उनके प्रति द्वेष और घृणा फैलाकर नही, बल्कि उनके दिमाग को समझाकर और दिल को बदलकर ही ऐसा कर सकते है। इन दोनो विधियो का नाम ही अहिंसा है।

यहातक हमने देखा कि सिद्धात या आदर्श में तो दोनो विचारवालो मे कोई खास अंतर नही है। साधन अर्थात् हिंसा और अहिंसा का भी भेद भारत से मिटता जा रहा है। तब फिर स्वभाव ही एक ऐसी चीज रह जाती है, जिससे ये दोनों प्रकार के लोग एक-दूसरे मे घुल-मिल नही रहे है। पर यदि हम दोनो मनोवृत्तियोवाले इस असलियत को समझ ले कि यह वास्तव मे स्वभाव का भेद है, अवस्था का भेद है, जोश और विवेक का भेद है, तो फिर दोनो के आपसी और सार्वजनिक संबधो मे गलतफहमी और फर्क नही रह सकता। व्यक्तिगत आक्षेप, निंदा, शक और अविश्वास—ये तभी रह और पनप सकते है, जब हम एक-दूसरे को और एक-दूसरे के विचारो को सहानुभूति और सद्भाव के साथ समझने से इकार कर दें। अगर हमे एक-दूसरे को समझाना और अपने मत का कायल करना है, तो हम उसके व्यक्तित्व पर हमला करके, उसकी बुराई करके, नही कर सकते। इसमें भी अहिंसा की उपयोगिता और आवश्यकता सब तरह सिद्ध होती है। हमारा तो यह दृढ विश्वास है कि जो अपने जीवन मे अहिंसा का जितना ही अधिक पालन करेगा उतना ही अधिक वह दूसरे के दिल और दिमाग़ को बदल सकेगा। इसमें जितनी कमी रहेगी उतनी हमारे अदर अहिंसा की कमी समझना चाहिए।

: १३ :

मजहबी राज या जनतंत्र

'पाकिस्तान' का नारा मजहब के आधार पर उठाया गया था। हमने उसे बुरा कहा व विरोध किया, क्योंकि हम जन-तंत्र को सही मानते हैं। दुर्भाग्यवश हमें 'पाकिस्तान' मंजूर करना पड़ा—इसका मतलब यह तो हरगिज नही हो सकता कि हमने मजहबी राज के उसूल को मान लिया व जनतंत्र के सिद्धांत को छोड़ दिया। फिर हम देखते हैं कि कई जगह पाकिस्तान का हवाला देकर हिंद में मजहबी आधार पर 'हिंदू-राज्य' बनाने की आवाज उठी और अब भी उठती रहती है। इसके माने यह हुए कि पाकिस्तान के गलत नारे को हम हिंदू भी अपनाले। दूसरे अर्थों में जिन्ना-साहब को अपना नेता मान ले। हिंदुओ ने इतिहास में आजतक मजहबी राज कायम करने की कोशिश नही की। उन्होंने धर्म-राज्य या राम-राज्य पर जोर दिया है, जिसके माने हैं सबमे एक आत्मा को मानकर, मानवता के, दूसरे शब्दों में, न्याय के आधार पर, राज-काज चलाया जाय। एक मजहब या सम्प्रदाय, जिसे गलती से कई बार 'धर्म' भी कह दिया जाता है, उसके आधार पर राजव्यवस्था खडी करना हिंदू-नेताओ ने सदैव अनुचित समझा है और यही कारण है कि भारतवर्ष में अनेक मजहबो—धर्म-संप्रदायों का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। यह भारत का अद्भुत उदारता, सहनशीलता का प्रमाण है और इसीके बल पर उसकी अखंडता अबतक कायम रही है। यदि अब हम इसके विपरीत मजहबी राज कायम करने की कोशिश करते है तो फिर से अखंड हिंदुस्तान का स्वप्न देखना छोड़ देना चाहिए।

फिर आज की दुनिया का रुख भी देखना होगा। दुनिया में आज कहीं भी मजहब के आधार पर राज्य की रचना नही हुई है। खुद पाकिस्तान-वाले भी जनतंत्र की दुहाई देने लगे है। यह तो हमारे जनतत्र की ही जीत हो रही है। ऐसी दशा में हम यदि मजहबी राज के अंधे रास्ते चलने लगें

तो हम हवा मे ही उमडते रहेंगे। जमीन पर कही भी हमारे पैर न टिक सकेंगे। आज के 'हिंद' में हिंदू वड़ी संख्या मे है। अतः यहां की राजनीति मे उनका प्रभाव व महत्व रहेगा ही। अखड हिंदुस्तान में शायद ही इतना महत्व रहता। हिंदू-दृष्टिकोण से आज का हिंद उनके हितो के ज्यादा अनुकूल या नजदीक है। अव यहा हिंदू-राज का नारा लगाने का मतलव है अल्पसंख्यको को भयभीत करना। इससे हमारी अदरूनी शाति व व्यवस्था में गड़वडी रहेगी, जो हमारी उन्नति व एक-राष्ट्रीयता में वाधक होगी और यदि यहा के सब अल्पसंख्यको ने मिलकर फिर 'अलहदा' होने का नारा लगाया तो 'हिंद' का असली नाम एक तरफ रह जायगा और हम एक के वाद दूसरी उलझन में फसते चले जायंगे। अत सिद्धात व व्यवहार दोनो दृष्टियो से हिंदू-आदर्श व हिंदू-हित का विचार करने से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि हम हिंदुओ को जनतत्र के सिद्धात को ही मजबूती से पकड़ रखना चाहिए।

उपसंहार

जसे-जैसे राष्ट्रजीवन या मानव-जीवन का विकास होता है, वैसे-वैसे नई-नई समस्याएं हमारे सामने आती हैं। इनका आना हमारे जीवन की प्रगति का निदर्शक है। वे हमारे आगे के विकास में बड़ी सहायक होती हैं, पर यदि हम समस्याओ की उपेक्षा करे या उन्हे अच्छी तरह हल न करे तो हमारी प्रगति और विकास रुक जाता है। अत देश के विचारशील और जिम्मेदार नेता हमेशा समस्याओ का मुकावला करते हैं, उनसे घवराते या मुह नही मोड़ते।

समस्याएं उन व्यक्तियो या राष्ट्रो के सामने ज्यादा आती हैं, जो किसी लक्ष्य या आदर्श को लेकर चलते हैं; क्योकि उनका पथ सीवा-सुगम नही होता। लक्ष्यहीन व्यक्ति और समाज सुविधानुसार अपना मार्ग निकाल लेते हैं—आसान मार्ग की खोज करते है और वहुत वार इस प्रयत्न मे अपने लक्ष्य को खो वैठते हैं, जवकि लक्ष्यवान् राष्ट्र या समाज सकटो, कठिनाइयो, कष्टो की परवाह न करके लक्ष्य की ओर ही सीवा वढ़ने का प्रयास करते हैं, जिससे नित्य नई समस्याएं उनके सामने आती रहती है। हमारा भारतीय राष्ट्र एक लक्ष्य को, एक उद्देश्य या आदर्श को लेकर चला है—भले ही उसे आप कुछ भी नाम दीजिये—समाजवाद, साम्यवाद या सर्वोदय। तीनो मे कुछ अंतर है, फिर भी एक वात सर्वमान्य है। वह यह कि वह व्यक्ति की ओर से हमारा ध्यान हटाकर समाज की ओर उसे ले जाता है। कोरी सकुचित व्यक्तिगत स्वार्थ या हित की दृष्टि से नही, सारे समाज के हित की दृष्टि इनमें प्रधान मानी गई हैं। यह अवाछनीय नही। इससे व्यक्तिवाद की अपेक्षा समाजवाद दिन-दिन लोक-प्रिय होता जा रहा है। निश्चय ही अव मै इन सवमें 'सर्वोदय' को सर्वश्रेष्ठ मानता हू, परंतु अभी हमारे भारतीय राजनेताओ ने इसे विधिवत अपना अर्थात् राष्ट्र का ध्येय

स्वीकार नही किया है । मेरी यह दृढ धारणा है कि आगे चलकर उन्हें यह मान्य करना होगा ।

स्वतत्र होते ही भारत ने अपने नवनिर्माण और विकास की ओर तेजी से ध्यान दिया। अंगरेजो के एकाएक चले जाने से, पाकिस्तान के निर्माण से, हमारे हाथो में नई-नई सत्ता आने से, जो-कुछ समस्याएं—साधारण और गंभीर—खड़ी हुई, उनका हमारे राजनेताओ ने शाति, दृढ़ता और समझ के साथ मुकावला किया, अभी-अभी पुनः-सगठन-आयोजन के सिलसिले मे जिन संकटो ने हमपर वुरी तरह हमला किया, उनका भी सामना हमने वहुत-कुछ सफलता के साथ किया । अब नये राज्य वन गये, उनका काम-काज चलने लगा । भाषा की समस्या अभीतक बनी हुई है । दूसरी दंगो और उपद्रवो की समस्या मुह वाये खडी है । वेकारी और वेरोजगारी की, अन्न की कमी की समस्या अभीतक हल नही हो पाई है ।

भाषा मुख्यत: हमारे विचारो और भावो को अभिव्यक्त करती है । स्वतत्र रूप से वह किसी तत्व या सिद्धात का स्थान नही ले सकती । वह केवल एक माध्यम या साधन है, जिसके सहारे हम अपने विचार या भाव दूसरे तक पहुंचाते है । देश, काल, पात्र के प्रभाव से उसके अनेक रूप और नाम प्रचलित हो गये हैं । हिंदी, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओ के नाम है, किसी तत्व या सिद्धांत के सूचक नही है । एक लंबे अर्से तक हमारा संवंध यदि एक भाषा से रहा है तो वह हमारे जीवन और स्वभाव का एक अंग वन जाती है; परंतु वह स्वयं जीवन या व्यक्तित्व का स्थान नही ले सकती । अर्थात् भाषा एक अंग, साधन, माध्यम है, अपने-आपमें कोई पूर्ण वस्तु नही है । इस मर्यादा को यदि हम न समझेंगे, या याद न रखेंगे तो भाषा की सेवा और उन्नति चाहते हुए भी हम उसकी कुसेवा करने की जिम्मेदारी ले लेगे । जव हिंदी-उर्दू, या अंग्रेजी-हिंदी या आजकल हिंदी-गुरुमुखी (वोली या लिपि) के विवाद खड़े होते है और वे एक यादवस्थली का रूप लेने लगते है तो उस अवस्था मे हम इस मर्यादा को भूले हुए होते है । मेरी समझ से पंजाव मे भाषा को लेकर जो सत्याग्रह चला वह कुछ ऐसी ही स्थिति की

ओर इशारा करता था। जो आज के हिंदी-भाषी या उर्दूभाषी समझे जाते हैं वे दो-चार वर्ष पहले किस भाषा को बोलते थे? आज हम चाहे किसी भाषा को मानते और बोलते हों—उसका रूप दिन-पर-दिन बदलता जाता है और हजार-पाचसौ साल के बाद ऐसा बन जा सकता है कि पांचसौ साल पहले की हिंदी के रूप से उसका बहुत कम मेल रह जाय। करीब-करीब वह दूसरी ही भाषा हो जायगी। इसी तरह भाषाओं का विकास हुआ है। तब भाषा के नाम-रूप का आश्रय लेकर कोई सत्याग्रह—कानून-भंग-जैसा आंदोलन करना कहांतक वाजिब है—यह सोचने की बात है।

शाति की समस्या वैसे सनातन-सी है, परंतु आजकल इसी की ओर विश्व के तमाम विधायकों का ध्यान जा रहा है। भारत से इसकी पुरजोर आवाज उठी है। एक ओर हमारे पंडितजी—जवाहरलालजी ने पचशील के द्वारा ससार में शाति की एक लहर ऊची उठाई है, वहां दूसरी ओर हमारे बाबा—विनोबाजी ने शांति-सेना के प्रत्यक्ष संगठन पर बल देना शुरू किया है। पंडितजी और बाबा दोनों बापू के उत्तराधिकारी हैं और अहिंसा तथा शाति की सबसे पहले उच्च ध्वनि सभवत. भारत से ही उठी है। अतः भारत की खास जिम्मेदारी है—न केवल अपनी भीतरी शांति के लिए, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शाति-स्थापना के लिए। इसके लिए यह परम आवश्यक है कि हम उन तमाम समस्याओं को शाति-अहिंसात्मक साधनों और उपायों से सुलझाने का प्रयत्न करें, जो अबतक हिंसात्मक साधनों से सुलझती दीखती थीं और बाज-बाज तो, थोड़े काल के ही लिए क्यों न हो, सुलझ भी जाती थीं। इसपर यहा अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।[1]

इस लेख के साथ यह पुस्तक समाप्त होती है। विविध समयों और

---

१ पाठक लेखक की 'हिंसा का मुकाबला कैसे करें' तथा 'शाति स्थापना' नामक पुस्तिकाओं को देखने का कष्ट करें। पूज्य विनोबा तो इसपर नित्य नई रोशनी डालते हैं। उनके प्रवचन 'भूदान-यज्ञ' नामक पत्र में नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। पाठक उन्हें अवश्य पढ़ें।

प्रसंगों पर लिखे होते हुए भी, पाठकों को समाज के नव-निर्माण में उपयोगी विचार-सामग्री इन लेखो मे मिलेगी, ऐसा मैं मानता हूं। विचार का स्थान आचार से भी ऊंचा और पहला है। विचार स्पष्ट और निश्चित होने चाहिए, तभी आचार सार्थक और सही हो सकता है। मैं समझता हूं, पाठकों के विचारो को स्पष्ट और निश्चित बनाने में यह संग्रह अवश्य सहायक होगा।

●